श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र की प्रवचनात्मक व्याख्या

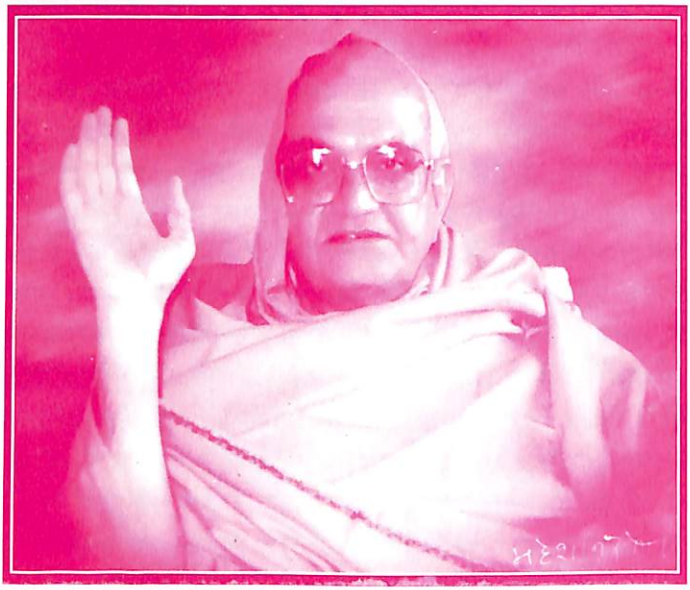

परमपूज्य अनन्तश्रीविभूषित आचार्य महामण्डलेश्वर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज

SVB Library
S.No.-
Subject- Shaka Tantra
Sub. Code- ST

चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट (रजि.)
, तिलक बाजार चौक, दिल्ली-११०००६
द्वारा धर्मार्थ वितरित

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र की प्रवचनात्मक व्याख्या

चित्रदीप प्रकरण और तृप्तिदीप प्रकरण पंचदशी के प्रथम दो दीप-प्रकरण हैं। पंचदशी को तीन भागों में बाँटा है- पाँच-पाँच अध्याय के तीन विभाग हैं, कुल पंद्रह प्रकरण हैं। पहले पंचक का नाम विवेक-प्रकरण है-तत्त्व-विवेक, पंचभूतविवेक, पंचकोशविवेक, द्वैतविवेक एवं महावाक्यविवेक। मध्य के पाँच प्रकरणों का दीप नाम है-चित्रदीप, तृप्तिदीप, कूटस्थदीप, ध्यानदीप एवं नाटकदीप। अन्तिम पाँच आनन्द-प्रकरण हैं। तृप्तिदीप प्रकरण में जीवन की सफलता का जो अनुभव है, उसका विस्तार से वर्णन किया। भोक्ता-भाव क्या है, उसकी निवृत्ति क्या है, भोग्य- भाव क्या है और उसकी निवृत्ति क्या है- यह बतलाया। परन्तु संसार को चित्र की तरह देखना तब तक सम्भव नहीं, जब तक विषयों में राग बैठा हुआ है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है - 'वमनाहारवद् यद्वद् भाति सर्वैषणादिषु'- उल्टी किये हुए पदार्थ सर्वथा अपने को हेय लगते हैं। जैसे बढ़िया से बढ़िया बादाम पड़ी हुए खीर जब उल्टी होकर निकलती है तब बादाम वैसे के वैसे निकल जाते हैं, परन्तु बादाम को देखकर पुनः ग्रहण करने की कोई कामना नहीं होती; इसी प्रकार जब इस संसार में पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा - सभी उल्टी की हुई चीजों की तरह अपने को सर्वथा हेय लगती है तभी चित्र की तरह संसार को देखना संभव है अन्यथा यदि चित्रदीप, तृप्तिदीप का जीवन में हम समन्वय करना चाहते हैं तो विरोध आता है। इसलिए गीता में कहा है-'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' (१२-५) जिनकी इस प्रकार की आसक्ति निवृत्त नहीं हो गई है उनको जो परब्रह्म परमात्मा का साक्षात् रूप है उसके अन्दर अत्यन्त क्लेश लगता है। चूँकि भगवान् अत्यन्त करुणारूप हैं इसलिए उन्होंने कहा कि जो ऐसा न कर सकें, वे मुझ पर भार छोड़ें। मेरे ऊपर भार छोड़ते हैं तो -

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥' (१२-७)

भगवान् ने कहा कि जो इस जगत् के प्रति सर्वथा आसक्ति से रहित नहीं हो पायें, वे जब तक राग रहेगा, तब तक संसार को चित्र की तरह देख नहीं सकते। इसलिए वे लोग परमानन्द की प्राप्ति नहीं कर सकते। जिससे वह प्राप्त होता है, वह बड़ा श्रेष्ठ मार्ग है। इस पर विचार करते हुए आचार्य शंकर ने गीताभाष्य में स्पष्ट किया है कि क्लेशदायक होने पर भी इसमें स्वतंत्रता है।

इस क्लेश की कमी होने पर भी जो भगवान् ने कहा है कि 'तेषामहं समुद्धर्ता' इसमें परतन्त्रता है। ठीक है, भगवान् ने कहा है कि 'भवामि न चिरात्' बहुत समय नहीं लेता हूँ, लेकिन भगवान् के हिसाब में बहुत समय और थोड़ा समय कितना है, यह हम अपने हिसाब से नहीं समझ सकते हैं! एक लौकिक कथा प्रसिद्ध है। रावण को वरदान देकर ब्रह्माजी वापस गये। वे लघुशंका करके जब निवृत्त हुए तब उन्होंने देखा कि संसार का क्या हाल है। देखते हैं कि रावण मरा हुआ है! रावण ने तो बड़े लम्बे समय तक रहने के लिए वरदान लिया था और हज़ारों साल रहा। परन्तु वे हज़ारों साल ब्रह्माजी के लिए इतना ही समय था जितनी देर में वे लघुशंका कर वापस आये। हम लोगों की एक चतुर्युगी तैंतालिस लाख बीस हज़ार सालों की होती है। ऐसी ही जब हज़ार चतुर्युगी हो जाती हैं तब ब्रह्माजी का एक दिन होता है। भगवान् ने तो कह दिया कि - 'भवामि न चिरात् पार्थ' हमारे लाख पचास हज़ार, साल तो उनके लिए चिर हैं ही नहीं। उतने समय में न जाने हम लोग कितनी बार सुख-दुःख भोग लेंगे, कितनी बार जन्म ले लेंगे। इसलिए आचार्य शंकर कहते हैं कि जो कर सकते हैं उनके लिए तो यह स्वतंत्र मार्ग ही ठीक है क्योंकि इसके अन्दर यहीं फल मिलता है यहीं तृप्ति का अनुभव हो जाता है। परन्तु, जैसा भगवान् ने कहा- 'क्लेशोऽधिकतरः' संसार के प्रति वैराग्य की तीव्रता - यह अत्यन्त क्लेशदायक है क्योंकि लोगों को तो संसार में आसक्ति ही भरी हुई है। जब तक नाम और रूप में आसक्ति है, नाम और रूप की हमें कुछ भी इच्छा है, तब तक अज्ञान का आवरण हट नहीं सकता। अतः ऐसे लोगों के लिए परतंत्रता होने पर भी भगवान् ने कहा कि यह मार्ग उचित ही है।

वह मार्ग कौन-सा है?भगवान् ने कहा-

'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः'॥१२-८॥

मन और बुद्धि को भगवान् के दिव्य रूपों में ही लगाओ। जो कुछ भी क्रिया करते हो, उसे परमात्मा की प्रसन्नता के लिए करो। इसमें ऐसा तीव्र वैराग्य तो नहीं चाहिए, फिर भी थोड़ा-बहुत वैराग्य तो चाहिए ही। क्योंकि भगवान् के लिए कर्म करने का अर्थ है कि 'मुझे इसका फल हो', यह इच्छा नहीं। वैराग्य की पूर्णता इसलिए नहीं है कि यह भाव रहता है कि 'फल भगवान् दे तो अच्छा है'। इतना ज़रूर है कि यदि नहीं मिलेगा तब भी सन्तोष कर लेंगे। इसलिए भगवान् ने इस प्रकार के लोगों के लिए कह दिया

है कि यह भी एक तरह का संन्यास है। आचार्य शंकर अपने भाष्य में स्पष्ट करते हैं कि कर्मफल का भी त्याग होने से उसकी प्रशंसा कर दी जाती है। जिस प्रकार से अगस्त्य भी ब्राह्मण थे और हम भी ब्राह्मण हैं। अगस्त्य के अन्दर तो सामर्थ्य थी, उन्होंने समुद्र पी लिया। ब्राह्मणों की उनसे समानता होने से ब्राह्मण की आज भी पूजा होती है। ठीक इसी प्रकार से यद्यपि कर्मफलमात्र का त्याग संन्यास है नहीं लेकिन फिर भी त्याग की समानता होने से भगवान् ने उसकी स्तुति की कि उसे भी संन्यास ही समझो। इसलिए कहा- 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः'। काम्य कर्मों का परित्याग करके केवल परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट कर्मों को करना, यह भी संन्यास ही है। कर्मफल का त्याग करने वाला अर्थात् कर्म को परमात्मा को अर्पण करने वाला भी वस्तुतः मोक्ष को ही चाहता है। इसलिए वह भी मुमुक्षु ही है।

भगवान् का शिव रूप साक्षात् मोक्षदायक है। शास्त्रों में कहा है 'ज्ञानम् इच्छेत् महेश्वरात्'- यह जो तत्त्व-ज्ञान है, यह भगवान् शंकर से ही प्राप्त होता है। भगवान् शंकर की एक मूर्ति ऐसी है जो केवल ज्ञान प्रदान करने के लिए ही प्रकट हुई थी। भगवान् के जो अवतार होते हैं उनमें कोई एक मुख्य प्रयोजन भी होता है। जैसे रामावतार का मुख्य प्रयोजन था- पुरुष कैसी मर्यादा का पालन करे, इसका निरूपण करना। इसलिए उन्हें मर्यादावतार, मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है। अवतार के अन्दर कोई एक विशेष वस्तु प्रकट होती है। कृष्णावतार में भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं के द्वारा प्रेम की जैसी महिमा प्रकट की, वैसी रामावतार में नहीं मिलेगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि रामावतार में इस तरह के दृष्टान्त नहीं मिलेंगे। परन्तु प्रेम की पराकाष्ठा जिसको कहा है- 'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछियाँ भरि छाछ पे नाच नचावें',- अर्थात् जिस प्रेमके कारण वे थोड़ी सी छाछ के लालच में नाच कर दिखाते थे वह रामावतार में नहीं मिलेगी। भगवान् पूर्ण हैं। उनमें कोई कमी नहीं है, परन्तु अवतार के प्रयोजनों में कोई एक प्रधान प्रयोजन रहता है जिसको वे व्यक्त करते हैं। ज्ञान देने का जो अवतार है वह भगवान् शंकर का दक्षिणामूर्ति स्वरूप है। साक्षात् ज्ञान देने के लिए ही इस रूप में वे अवतरित हुए।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा कि मैंने जब सृष्टि की तब पहले सप्त महर्षि बनाये। उनसे कर्म-मार्ग का प्रवर्तन किया। लेकिन उनसे भी पहले चार- सनक, सनन्दन, सनातन एवं सनत् को प्रकट किया। ये निवृत्ति-मार्ग के प्रवर्तकाचार्य हैं। ज्ञान के लिए गुरु के पास जाना आवश्यक है। ब्रह्मा से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। जब पहले-पहले उत्पन्न किया, तब ब्रह्माजी ने कहा कि 'शादी-ब्याह करो, बच्चे पैदा करो।' सनत्कुमारों ने कहा

'महाराज! शादियाँ तो जन्म-जन्म में होती हैं। इससे क्या फल होता है? ऐसे लोगों को पैदा करके क्या फायदा होगा?लोग ज्यादा दुःखी होंगे।' ब्रह्माजी को क्रोध आया। 'अभी तुमको जिस काम के लिए पैदा किया तुम वह काम नहीं करना चाहते हो! भागो यहाँ से!' चूँकि ब्रह्माजी से ही सारी सृष्टि हुई है इसलिए आज भी कोई संन्यासी बनना चाहता है तो पिता ऐसे ही धमकाते हैं। इसलिए सनत्कुमार भगवान् शंकर के पास गये। भगवान् शंकर उत्तम अधिकारियों को देख करके सबसे पहले दक्षिणामूर्तिरूप धारण करके मौन बैठ गये। परमात्मा का उपदेश वस्तुतः मौन से ही होता है। 'मौनव्याख्याप्रकटितपरब्रह्मतत्त्वम्' परम ब्रह्म-तत्त्व तो मौन व्याख्यान से ही प्रकट किया जा सकता है। अतः वे मौन बैठ गये और उन्होंने चिन्मुद्रा को धारण कर लिया। चिन्मुद्रा के द्वारा सनकादि समझ गये कि इस मुद्रा का अर्थ है- जीव-ब्रह्म की एकता और तीनों शरीरों का, तीनों गुणों का त्याग। तर्जनी अंगुली जीवभाव को बतलाती है। किसी को धमकाते हैं तो इसी अंगुली को दिखाकर धमकाते हैं कि 'तुमको देख लूँगा'। इसलिए संस्कृत में इसको तर्जनी कहते हैं, दूसरे को जब तर्जन करना होता है, डाँटना होता है, तब इसका प्रयोग होता है। हमने तुमसे एक लाख रुपये लिये और रुपये उड़ा लिये। तुम आये, तुम्हें कुछ नहीं देना है तो कहते हैं कि 'उसने उसको अंगूठा दिखा दिया।' सारा नाम-रूप जहाँ ख़त्म हो जाता है, वह ब्रह्मरूप है। ब्रह्मरूप से सारे जगत् को अंगूठा दिखा दिया जाता है। इसलिए ब्रह्म का अंगूठे के द्वारा, और तर्जनी के द्वारा जीव का बोध कराया जाता है। जीवभाव का प्रधान प्राकट्य तो जाग्रत् अवस्था में ही है। इसलिए तर्जनी के सबसे पास में जो है, वह जाग्रत् का अभिमानी है। उसकी एकता कम हो गई, स्थूल शरीर की उपाधि नहीं रही, इन्द्रियों की उपाधि रही तब वह तैजस, हिरण्यगर्भ हो गया। अनामिका उससे छोटी है। उससे भी छोटी कनिष्ठिका; जब मन भी नहीं रहा केवल अज्ञानमात्र रह गया, तब सुषुप्ति हो गई। इन तीनों शरीरों का त्याग करके, केवल ब्रह्म से अपनी एकता- चिन्मुद्रा के द्वारा इस भाव को प्रकट करते हुए भगवान् दक्षिणामूर्ति का रूप है। दक्षिणामूर्ति के कई प्रकार के रूप हैं। दक्षिणामूर्ति उपनिषद् में भी पाँच प्रकार के रूप बताये गये हैं। परन्तु सबमें चिन्मुद्रा एक जैसी ही है। बाकी कुछ भी बदल जाय, लेकिन चिन्मुद्रा अवश्य रहेगी। दक्षिणामूर्तिरूप ज्ञान के लिए सबसे प्रधान उपास्य है। तृप्तिदीप प्रकरण में जिस तृप्ति को बतलाया उसे प्राप्त करने के लिए नाम, रूप का जो सर्वथा परित्याग नहीं कर सकते हैं, उनके लिए भगवान् दक्षिणामूर्ति की जो उपासना है, यही प्रधान उपाय है।

आचार्य शंकर-रचित यह दक्षिणामूर्तिस्तोत्र है-

उपासकानां यदुपासनीयमुपात्तवासं वटशाखिमूले।
तद् धाम दाक्षिण्यजुषा स्वमूर्त्या, जागर्तु चित्ते मम बोधरूपम्॥ १॥

वटवृक्ष के मूल में निवास ग्रहण किया जो उपासकों द्वारा उपास्य है वह ज्ञानरूप तेज दाक्षिण्ययुक्त मूर्ति से मेरे चित्त में जगे।

उपासक का मतलब होता है समीप में जाकर वास करने वाला, जो ब्रह्म से एकभाव को प्राप्त होना चाहता है। सान्निध्य की सीमा तो यही है कि उनसे सर्वथा एक हो जाय। सर्वथा एकता के लिए जो आवश्यक नाम-रूप का त्याग है, वह जिनके लिए सम्भव नहीं हो पाता है, समीप तक जाना उनके लिए सम्भव है ही। उपासक तो अनेक देवताओं के होते हैं, परन्तु दक्षिणामूर्ति के उपासक का उद्देश्य संसार में किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं है, केवल ब्रह्म-प्राप्ति ही है। उपासना तो सभी देवताओं की होती है; परन्तु इस प्रकार के उपासकों के लिए वे ही उपासनीय हैं, अन्य उपास्य उनके लिए व्यर्थ हैं। जिसको जो वस्तु चाहिए वही उसकी उपासना करेगा। विद्या चाहेगा तो सरस्वती की उपासना करेगा। विद्या-प्राप्ति के लिए लक्ष्मी की उपासना तो नहीं करेगा। जो धन चाहेगा, वह लक्ष्मी की उपासना करेगा। वह तो सरस्वती की उपासना नहीं करेगा। यद्यपि लक्ष्मी-सरस्वती दोनों परमेश्वर ही हैं तथापि जिस विग्रह के द्वारा जो ऐश्वर्य प्रधान रूप से प्रकट हुआ है, उस उपाधि की उपासना करने से उस उपाधि के द्वारा वही फल प्रकट होता है। यह उपासना का सिद्धान्त है। जो साक्षात् मोक्ष को चाहते हैं, वे दक्षिणामूर्ति के उपासक हैं।

मुमुक्षु को किसकी उपासना करनी चाहिए?उसकी उपासना करनी है जो 'वटशाखिमूले उपात्तवासम्'- भगवान् दक्षिणामूर्ति वट वृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं। जिस प्रकार पीपल भगवान् विष्णु का प्रतीक माना जाता है, पलाश भगवान् ब्रह्मा का प्रतीक माना जाता है, बिल्व वृक्ष भगवती दुर्गा का प्रतीक माना जाता है, इसी प्रकार से वट वृक्ष भगवान् शंकर का प्रतीक माना जाता है। इसलिए वट वृक्ष के नीचे ही भगवान् दक्षिणामूर्ति बैठते हैं और वहीं निवास करते हैं।

दक्षिण में माणिक्यवाक् नाम के एक बड़े शिवभक्त हुए हैं। वे कहीं जा रहे थे तो उन्होंने सुना कि वेद पाठ हो रहा है। वे जंगल में देखने के लिए चले गये कि कहाँ से आवाज़ आ रही है। वहाँ भगवान् दक्षिणामूर्ति बैठे हुए थे और बड़े-बड़े ऋषि उनके सामने बैठे हुए थे। भगवान् दक्षिणामूर्ति उनको आत्म-तत्त्व का उपदेश दे रहे थे। वे वट वृक्ष के नीचे ही बैठे हुए थे। माणिक्यवाक् ने बाद में उस दर्शन के द्वारा आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर संसार की सब वस्तुओं को छोड़, उसी स्थान पर भगवान् शंकर का मन्दिर बनाया, वह अभी भी है। दक्षिणामूर्तिरूप में वे दर्शन देते हैं तो वट वृक्ष के नीचे ही स्थित होते हैं। इसीलिए कहीं पर भी तुम चले जाओ, तालाब के किनारे

वट-वृक्ष होगा तो उसके नीचे भगवान् शंकर का शिवलिंग लोग ज़रूर बैठा देते हैं और उसपर जल चढ़ा देते हैं। वट-वृक्ष के मूल में उन्होंने रहना स्वीकार किया है। वट वृक्ष की विशेषता यह है कि जो शाखा है, वह मूल बन जाती है। शाखाओं में से जटा नीचे आती है और वह ज़मीन में चली जाती है, उससे फिर वृक्ष हो जाता है। और वे इतने बड़े हो जाते हैं कि यह पता नहीं लगता कि कौन प्रथम मूल है और कौन जटा वाला मूल है! बंगाल में एक वट वृक्ष है। वह तीन सौ साल पुराना है, लगभग एक मील के घेरे में उसके सैकड़ों इस प्रकार के मूल हैं। जैसे उसके मूल का पता नहीं लगता, वैसे ही ये जो नाम-रूप हैं, इनका पता लगाने जाओ तो कुछ पता नहीं लगता। अतः यह सब कहाँ से आया? 'अव्यक्त' से। केवल इतना कह सकते हैं कि पहले व्यक्त नहीं था और अब व्यक्त है। व्यक्त होने से पहले क्या था?- यह कोई कह नहीं सकता। व्यक्त होने से पहले कुछ जरूर था, क्योंकि 'कुछ नहीं' से 'कुछ' पैदा नहीं होगा। व्यक्त होने के पहले कुछ ज़रूर था, परन्तु वह कुछ क्या था?यह नहीं कह सकते हैं। जिसके बारे में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती, उसी को माया कहते हैं। इसलिए श्रुति कहती है 'न सन् न चासच्छिव एक केवलः' उस समय न सत् था न असत् था, बस यह ही माया का रूप है। माया में तुमको दो ही अनुभव हो सकते हैं या तो कोई चीज है या कोई चीज नहीं है। घड़ा है या घड़ा नहीं है, बस ये दो ही अनुभव हो सकते हैं। वहाँ पर न है का अनुभव और न नहीं है का अनुभव, 'शिव एव केवलः' केवल शिव ही सच्चिदानन्द रूप से मौजूद है और अव्यक्त इस प्रकार सदसद्विलक्षण है। वही माया है जिसने यह सारा जगत् उत्पन्न किया है। जब वह व्यक्त होती है तब या चीजें हैं या नहीं हैं। जब तक वह व्यक्त नहीं हुई, तब तक उसको न है कह सकते हैं और न नहीं है कह सकते हैं।

'दाक्षिण्यजुषा' दाक्षिण्य क्या है?जब भी ब्राह्मण आप लोगों के हाथ में मौली बाँधते हैं तो हमेशा कहते हैं -

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

व्रत के द्वारा ही दीक्षा की प्राप्ति होती है। दीक्षा में व्रत होते हैं कई व्रतों में दूध के सिवाय कुछ नहीं पीना है या इसी प्रकार से कोई न कोई व्रत होता है। इसी प्रकार से 'परमात्मा के सिवाय मुझे कुछ नहीं चाहिए', यह व्रत होने पर ही दीक्षा की प्राप्ति होती है। इसी को कहते हैं- 'वैराग्यस्य फलं बोधः'। वैराग्य एक दीक्षा है, परन्तु यह प्राप्त व्रत से होती है। परमात्मा चाहिए, यह भाव दृढ हो, तभी वैराग्य आता है। संसार के पदार्थों को तो हमने देखा है,

इसलिए उसके प्रति राग तो स्वाभाविक ही है। परन्तु परमात्मा को तो देखा नहीं और देख सकते भी नहीं क्योंकि परमात्मा दृश्य है नहीं। 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्' उसमें रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध तो है नहीं, इन्द्रियों का विषय वह है नहीं। विषयों में राग होता है, रसगुल्ला मीठा होवे, या सुन्दर दृश्य होवे तभी उसमें राग होता है। परमात्मा में यह रूप, रसादि कुछ है नहीं। इसलिए जब तक व्रत न कर लेवें, तब तक दीक्षा की प्राप्ति होती नहीं। 'दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्' जब वैराग्य की दीक्षा हो जाये, तभी दक्षिणा की प्राप्ति होती है। उपनिषद कहती है– 'शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता'– परमात्मा की तरफ जाने वाली जो वृत्ति है वही दक्षिणा है। परमात्मा की तरफ जाने वाली वृत्ति के द्वारा ही उनका सेवन हो सकता है। इसलिए भगवान् दक्षिणामूर्ति के पास जाकर कहोगे कि 'धन दो, यश दो, मकान दो' तो नहीं बनेगा; क्योंकि उनकी सेवा से वह मिल नहीं सकता। प्रत्येक देवता की सेवा करने के कुछ नियम होते हैं। उन नियमों को मानो तभी तुम उस देवता की सेवा कर सकते हो। इसलिए श्रुतियों में कहा है – 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'। देव की जो उपाधि है उस उपाधि को धारण करके फिर देव-पूजन किया जाता है। भगवान् शंकर का पूजन करने बैठते हो तो खुद भस्म लगाकर बैठते हो, रुद्राक्ष धारण करके बैठते हो। लक्ष्मी जी की पूजा करने बैठते हो तो बिन्दी लगाते हो, इसी प्रकार से कमल के बीजों की माला बनाते हो। जिस देवता की पूजा करोगे, उसके अनुकूल ही कम से कम बाहर की उपाधि को भी धारण करते हो। मात्र बाहर की उपाधि ही नहीं, अन्दर की भी धारण करनी पड़ती है। इसलिए कहा 'दाक्षिण्यजुषा'। भगवान् दक्षिणामूर्ति से कहो कि 'मेरे राग निवृत्त हो जायें' तो वे राग-मुक्त कर देंगे। लेकिन उनसे कहो कि रसगुल्ला मिल जाये तो नहीं मिलना है। 'स्वमूर्त्या' दक्षिण की तरफ मुख किये हुए उनकी मूर्ति है।

'मम चित्ते जागर्तु'– वह मेरे अन्तःकरण में स्फुरित होवे। वह कौन-सा रूप है?'बोधरूपम्'। परमात्मा का जो ज्ञान है, ब्रह्माकार वृत्ति है, वही सचमुच में दक्षिणामूर्ति है।

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्।
दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः॥

ब्रह्माकार जो बुद्धि की वृत्ति है, यह बोधरूप है। उस वृत्तिरूप से भगवान् 'मम चित्ते जागर्तु'– मेरे चित्त में जग जावें। चिन्मुद्रा धारण किये हुए हैं, अतः उपाधि के द्वारा प्राप्त करने वाली चीज उनका बोधरूप है। उस वृत्तिरूप उपाधि के द्वारा वे प्राप्य हैं। जैसे आँख दीखती नहीं है, परन्तु आँख के द्वारा देखते हैं। आँख के द्वारा रूप देखते हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण की वृत्ति से

ब्रह्म को देखते हैं।

आगे कहते हैं कि यह केवल कल्पना नहीं है -

अद्राक्षमक्षीणदयानिधानमाचार्यमाद्यं वटमूलभागे।
मौनेन मन्दस्मितभूषितेन महर्षिलोकस्य तमोनुदन्तम्॥२॥

अनन्त दया के खजाने, मौन और मन्द मुस्कान से भूषित आद्य आचार्य को वट के मूल पर बैठा व महर्षि लोगों के अज्ञान को हटाते हुए मैंने देखा।

'अद्राक्षम्' मैंने भगवान् को देखा है। कैसे हैं वे?कैसे मैं उनको देख पाया?'अक्षीणदयानिधानम्' - वे दया के निधान हैं, दया के दानी हैं। उस बोधरूप को देखना सम्भव नहीं है। मेरे लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि मुझमें वैराग्य की पूर्णता नहीं है। परन्तु मेरे ऊपर दया करते हैं, क्योंकि वे दयानिधान हैं। भगवान् शंकर को इसीलिए करुणावतार कहा है। पुराणों में बार-बार यही वर्णन आता है- राक्षस आदि जो भी वरदान माँगते हैं, वे दे देते हैं। उनसे वरदान लेकर वे बाद में उनको ही परेशान करते हैं! परन्तु जो दयानिधान होता है, खुद तकलीफ पाये तो भी दया करना छोड़ नहीं सकता। एक बार एक कार्टून देखा था। एक आदमी फुट-पाथ पर बैठा हुआ है। वहीं पर फैक्ट्री का प्रधान दरवाजा है और सब काम करने वाले आ-जा रहे हैं। ड्यूटी बदलने का समय है। उनमें एक बड़ी उम्र का आदमी है। वह एक छोटी उम्र के कर्मचारी को कहता है 'जानते हो यह कौन बैठा है?यह पहले हमारा मालिक हुआ करता था! हम लोगों की परवाह करते-करते यहाँ पहुँच गया है।' दयानिधान का करुणा करते-करते यही हाल होता है। वे दया का खजाना होने से ना कर नहीं सकते। क्या यही हाल दक्षिणामूर्ति का हो जायेगा?इसलिए कहा- 'अक्षीणदयानिधानम्'। उनका जो खजाना है वह कभी क्षीण होने वाला नहीं है, कभी कम होता नहीं है। बाकी लोग जो करुणा करते हैं, उनके पास तो सामर्थ्य की कुछ सीमा होती है।

'आद्यम् आचार्यम्'- भगवान् पतंजलि ने लिखा है 'सःपूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' जितना पूर्व में जाते जाओ, परमेश्वर से आगे फिर और कोई गुरु नहीं है। बाकी सबको ज्ञान गुरु के द्वारा होता है। लेकिन परमेश्वर को ज्ञान गुरु के द्वारा नहीं है। वह गुरुओं की अन्तिम•सीमा है। जितना भी पूर्व में चले जाओ, उन सबके गुरु तो वे ही हैं। गुरु का स्वरूप क्या है?शास्त्रों ने बतलाया है कि गुरु का वास्तविक स्वरूप ज्ञान है। ज्ञान ही गुरु है क्योंकि ज्ञान ही अज्ञान को नष्ट करता है और अज्ञान को नष्ट करने वाला ही गुरु माना जाता है। कोई व्यक्ति अज्ञान को नष्ट नहीं करता है।

उसका जो ज्ञान है, वह हमारे अज्ञान को नष्ट करता है। वह प्रकट चाहे उस शरीर मन से हुआ। इसी प्रकार से ब्रह्मज्ञान ही वस्तुतः गुरु है। वह ब्रह्म का ज्ञान है, चाहे ब्रह्म को आश्रय मानो, चाहे विषय मानो, वस्तुतः वह न आश्रय है न विषय है, वह तो इसी आश्रयता एवं विषयता से हीन ज्ञानमात्र है। गुरु के द्वारा इसी ज्ञान की प्राप्ति होती है। सम्प्रदाय परम्परा के कारण ज्ञान में कोई बदलाव नहीं आता। कुछ बताने वाले साधन बदल जाते हैं, परन्तु ज्ञान वही अखण्ड बना रहता है, उसमें कोई फ़र्क नहीं आता है। 'आचार्यमाद्यं' जो पूर्व में कहा था 'बोधरूपम्', उसी को यहाँ कह दिया 'आचार्यमाद्यं'- ज्ञानरूप होने से ही वह आदि आचार्य हैं।

कहाँ पर हैं?'वटमूलभागे'- वट वृक्ष के नीचे हैं। पूर्व में कहा था 'वटशाखिमूले'। पेड़ शाखा वाला होने से उसे शाखी कहते हैं। यहाँ कहा 'वटमूलभागे'। जड़, जो उसका कारण है, उसको मूल कहा। जिस प्रकार भगवान् ने गीता में कहा-'ऊर्ध्वमूल' मूल तो ऊर्ध्व में है; ऊर्ध्व से तात्पर्य है श्रेष्ठ। छत की तरफ नहीं देखना! जैसे कोई बहुत प्रसिद्ध विद्वान् हो तो कहते हैं कि 'ये बड़े ऊँचे विद्वान् हैं'। जैसे वहाँ ऊँचे का मतलब है विद्वत्ता की श्रेष्ठता इसी प्रकार मूल की श्रेष्ठता बतलाने को ऊर्ध्व कहा है। उसी प्रकार से यहाँ 'वटमूलभागे' कहा। एक वट वृक्ष की ही विशेषता है कि उसका जो मूल है, वह ऊपर शाखा से आता है। शाखा ही उसका मूल हो जाती है। इसलिए पहले शाखी और यहाँ पर 'वटमूल' कह दिया। उस मूल की तरफ बैठे हुए हैं। वट वृक्ष सारे संसार के फैलाव को बतलाता है। जैसे एक शाखा फिर वृक्ष हो जाती है उसी प्रकार से तुम्हारा पुत्र हुआ, पुत्र पूरा व्यक्ति हो गया, वैसा ही हो गया जैसे तुम थे। उससे फिर आगे पुत्र हो गया। इस प्रकार से यह संसाररूपी वट वृक्ष चलता ही रहता है। ऐसा जो वट वृक्ष का मूल है, उत्कृष्ट भाग है, वह है अधिष्ठान। इसलिए इस सारे नाम-रूपात्मक फैले हुए जगत् के अन्दर उन सबका जो अधिष्ठान है, वह वटमूल भाग है। वहीं पर भगवान् दक्षिणामूर्ति अधिष्ठित हैं अर्थात् अधिष्ठान तो अभिन्न है।

'मौनेन तमोनुदन्तम्' मौन के द्वारा ही वे अज्ञान अन्धकार को नष्ट कर रहे हैं। उनका जो मौन है, वह ही व्याख्यान है। श्रुति, परमेश्वर को बतलाने के लिए कहती है -

'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' ॥ के०१-५॥

मन जिसको जान नहीं सकता वह परमेश्वर है, मन उसके बारे में सोच ही नहीं सकता। जब मन ही नहीं सोच सकता तो वाणी क्या बोलेगी?इसलिए

श्रुति ने स्पष्ट करने के लिए यह भी कह दिया - 'यद्वाचानभ्युदितम्' (के०१-४) वाणी के द्वारा उसको कहा नहीं जा सकता। फिर मन और वाणी की उपयोगिता क्या है?क्योंकि जाना तो इन्हीं के द्वारा जायेगा। कहते हैं कि बस यह फ़र्क है - बाकी चीजें तो वाणी प्रकट करती है, पर वाणी जिससे प्रकट होती है, वाणी जिससे प्रवृत्त होती है, वह ब्रह्म है। इसी प्रकार 'येनाहुर्मनो मतम्' (के० १-५)। जिसके होने से मन सोच रहा है, वह ब्रह्म है। मौन यानी जिसको मन और वाणी से प्रकट नहीं कर सकते। यह ठीक है कि लोक में मौन का अर्थ वाणी से प्रकट न करना मात्र है, परन्तु श्रुति के अन्दर जहाँ मौन कहा है वहाँ उसका मतलब है श्रवणादि कर चुकने के बाद की स्थिति । इसलिए केवल वाणी का नहीं, मन का मौन है। वाणी का मौन तो है ही क्योंकि बिना मन के वाणी बोल नहीं सकती। वाणी और मन से अतीत है, यही उनके मौन का अर्थ है। वही अज्ञानान्धकार दूर कर सकता है।

परन्तु किसके अन्धकार को दूर कर सकेगा?कहते हैं 'महर्षिलोकस्य तमो नुदन्तम्', जो महर्षि लोक है अर्थात् जिन्होंने दीर्घकाल पर्यन्त साधना कर ली है, वे ही इस बात को समझ पायेंगे। महर्षिगण न कह कर महर्षि लोक इसलिए कहा- लोक मायने जहाँ रहते हैं। महर्षि जहाँ रहते हैं वह हुआ महर्षि लोक। महर्षि कहाँ रहते हैं?जहाँ ऋषि-भाव की प्राप्ति होती है। ऋषि शब्द का अर्थ बतलाया है- 'ऋषयो मंत्रद्रष्टारः'। मंत्र के जो द्रष्टा हैं, वे ऋषि हैं। ऋषि प्रायः उन्हें कहा जाता है जिन्होंने सबसे पहले सृष्टि के आदि में मंत्रों का दर्शन किया। परन्तु मूल अर्थ तो यही है, चाहे पहले किया चाहे बाद में किया। जिसने भी मंत्र का दर्शन किया वह ऋषि है। मंत्र का मतलब होता है - विचार करने से जो तुम्हारा रक्षण करे और द्रष्टा अर्थात् जिसने तात्पर्य को भली प्रकार से समझा है। परोक्ष ज्ञान हो गया, इतने मात्र से वे ऋषि हैं। जिसने भी इस प्रकार से वेद का स्वाध्याय अच्छी तरह से किया है, वह तो मौन व्याख्यान से समझ जायेगा, नहीं तो सोचेगा कि 'यह गूँगा होगा, बोल ही नहीं रहा है।'

केवल मौन नहीं है 'मन्दस्मितभूषितेन'- हल्की-हल्की उनके चेहरे पर होंठों के ऊपर मुस्कुराहट भी है। यद्यपि मुस्कुराया तो केवल होंठों से जाता है तथापि यदि कभी काँच के सामने खड़े होकर ध्यान से देखो और काँच अच्छा हो तो जब तुम्हारे में सचमुच में 'स्मित' आता है तब तुम्हारी आँखें, तुम्हारे गाल और सारे ही चेहरे का ढंग बदल जाता है। आजकल एक प्रथा चली है- सबेरे खूब हँसो। हमारे यहाँ भी एक सज्जन आते हैं, वे भी उसके सदस्य हैं। वे कहते हैं हम लोग हँसें जोर से?हमने कहा 'हँसो'। ध्यान से चेहरा देखते हैं तो चेहरे पर उनके उदासी ही रहती है, जबरदस्ती चाहे जितना अट्टहास कर लें। असल में स्मित होता है तो सारा चेहरा बदल

जाता है। इसी प्रकार से भगवान् दक्षिणामूर्ति अट्टहास नहीं करते, स्मय करते हैं। सारे संसार को वे एक आश्चर्य से देखते हैं। यह संसार ऐसा आश्चर्य है कि सर्वथा न हो करके दीख रहा है। यह ऐसा कार्य-कारण भाव से जुड़ा हुआ दीख रहा है, लगता है यह सब कैसे नहीं है?सबके कारण दीख रहे हैं। दीखता तो ऐसा है, परन्तु जब पता लगाने जाते हैं तब किसी भी वस्तु का कोई कारण नहीं है। कारण उसको कहते हैं जिसके होने पर कार्य अवश्य होवे। परन्तु, ऐसी कोई चीज नहीं जिसका निश्चित प्रभाव निर्धारित हो सके। इतना ही नहीं, हर वस्तु किसी कारण से उपस्थित होती लगती है किन्तु चार-छह कोटियों के बाद सभी को स्वीकारना पड़ता है कि इसके कारण का पता नहीं। जिसके कारण का पता नहीं है, उसी को झूठी चीज कहते हैं। रस्सी में सर्प किससे दीखा?किसी को पता है नहीं, दीखा जरूर है। कोई भी निश्चित कारण-कार्य परम्परा बतला नहीं सकता। सब जानते हैं कि पता नहीं है, फिर भी कहते हैं 'कारण-कार्य भाव से बद्ध संसार को कैसे कहते हो कि नहीं है?' इस संसार को सामान्य से सामान्य आदमी भी असत्य अनुभव करता है। फिर भी असत्य न समझ कर बड़े-बड़े विद्वान् भी इसको सत्य मानते हैं! भगवान् दक्षिणामूर्ति का 'मन्दस्मित' इस आश्चर्य को देखकर है। 'मन्दस्मित' उनको शोभा दे रहा है, 'भूषितेन'- उससे वे भूषित हैं। मन्दस्मित केवल होंठों का ही विषय नहीं है। आँख, कान, नाक इत्यादि सारे के सारे इस अद्भुतता का, इस आश्चर्य का अनुभव करते हैं। कान सुनते हैं यह भी एक आश्चर्य है, आँख देखती है यह भी एक आश्चर्य है, नाक सूँघता है यह भी एक आश्चर्य है, जीभ चखती है यह भी एक आश्चर्य है, त्वक् स्पर्श करता है यह भी एक आश्चर्य है। इसलिए सारे चेहरे से हँसी प्रकट हो रही है कि- देखो! यह बिना हुए ही कैसा प्रतीत हो रहा है! इसलिए इसको कहा कि यह उनकी भूषा है, भूषण है। जैसे मौन ही उनकी व्याख्या है, वैसे ही जो 'मन्दस्मित' है, यह ही उनका भूषण है।।२।।

विद्राविताशेषतमोगणेन, मुद्राविशेषेण मुहुर्मुनीनाम्।
निरस्य मायां दयया विधत्ते देवो महांस्तत्त्वमसीति बोधम्।।३।।

हट जाता है समस्त अज्ञान-समूह जिससे उस विशेष मुद्रा से पुनः मुनियों की माया को निरस्तकर महादेव दया द्वारा 'तत्त्वमसि' यह बोध सम्पन्न करा देते हैं।

तम अज्ञान-अन्धकार को कहते हैं। जिस प्रकार लोक में अन्धकार आँख की देखने की शक्ति को अवरुद्ध कर देता है, उसी प्रकार अज्ञान आत्मा के स्वस्वरूप ज्ञान को आवृत कर देता है यानी ढक देता है। आत्मा चिद्रूप है। चिद्रूप का मतलब है वह स्वयंप्रकाश है, अपना भी अनुभव करता है और दूसरे का भी। ठीक जिस प्रकार से दीपक खुद भी दीखता है और दूसरे पदार्थों को भी दिखाता है। दीपक को देखने के लिए किसी अन्य प्रकाश

जरूरत नहीं पड़ती है। दीपक खुद भी दीखता है और जो उसकी परिधि में आये उन पदार्थों को भी दिखा देता है। इसी प्रकार चेतन का स्वभाव है अपने को भी जानना और जो उसकी सन्निधि में आये उनको भी जानना। चेतन का प्रकाश अहंकार में पड़कर चिदाभास, बुद्धि में पड़कर ज्ञान कहलाता है। प्रकाश पड़ी हुई बुद्धि का सम्बन्ध जब घट-पटादि से होता है तब उनका भी ज्ञान हो जाता है, वे भी प्रकाशित हो जाते हैं। चेतन का दूसरों को प्रकाशित करना तो स्पष्ट पता रहता है पर चेतन का जो स्वप्रकाशरूप है उसका पता नहीं लगता। यद्यपि चेतन से ही बाकी सब चीजें प्रकाशित हो रही हैं तथापि खुद चेतन हमें अज्ञात है। जैसे लोक में यह देखने में आता है: जैसे इस समय आकाश में बादल हैं इसलिए सूर्य हमें नहीं दिखाई दे रहा है; खुद सूर्य तो दीख नहीं रहा है परन्तु हमें सामने के पेड़, आदमी इत्यादि सब दीख रहे हैं। किसके प्रकाश से दीख रहे हैं? बिजली तो जल नहीं रही, लालटेन भी नहीं जल रही है। इसलिए सूर्य के प्रकाश के द्वारा दीख रहे हैं। बादल सूर्य की स्वप्रकाशकता को तो ढाँक देता है, सूर्य का प्रकाश सूर्य को नहीं दिखाता है परन्तु परप्रकाशकता बनी रहती है।

हस्तामलकाचार्य ने कहा है-'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कम्।' बादल हमारी दृष्टि को ढाँकता है जिससे लगता है कि बादल से सूर्य ढक जाता है। ठीक इसी प्रकार से परमात्मा का प्रकाश चिदाभास के द्वारा सबको प्रकाशित कर रहा है। जैसे यहाँ बादल से छनकर आया हुआ सूर्य का प्रकाश है, इसी प्रकार अज्ञान का कार्य जो अहंकार की वृत्ति उसमें पड़ा चिदाभास ही सारे संसार को दिखा रहा है, परन्तु मूल प्रकाश चिन्मात्र का है। यद्यपि यह बादल से छनकर आया है पर प्रकाश तो सूर्य का ही है, बादल का प्रकाश नहीं है। जो अत्यन्त अज्ञानी होगा वह समझेगा कि 'ऊपर आकाश में बादल चमक रहा है, शायद बादल का ही प्रकाश होगा।' इसी प्रकार बहुत से साधारण लोग यही समझते हैं कि जानने वाला यह वृत्ति वाला 'मैं' है। वृत्ति वाले 'मैं' के द्वारा चेतन का प्रकाश ही जान रहा है। अज्ञान ने चेतन को ढाँक दिया, ढाँका इसी तरह से कि अज्ञान में से उसका प्रकाश आवे।

परन्तु अज्ञान अकेला नहीं है। अज्ञान का कार्य भी मौजूद है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, ये पंचमहाभूत अज्ञान के कार्य हैं। इन सब रूपों में प्रतीत कौन हो रहा है?चेतन ही हो रहा है। परन्तु अज्ञान के द्वारा ये रूप प्रतीत हो रहे हैं। जिस प्रकार रस्सी को ही हम अन्धकार के कारण सर्प समझते हैं। सर्प हमको दीख रहा है, यह ही अज्ञान का कार्य है। परन्तु रस्सी पर ही दीख रहा है। इसलिए ठीक तरह से कहें तो रस्सी ही अज्ञान के कारण सर्प बनी हुई दीख रही है। इसी प्रकार वह परम ब्रह्म परमात्मा ही अज्ञान के कार्यों के द्वारा जगत्‌रूप में प्रतीत हो रहा है। देखने की जो

उपाधियाँ हैं- मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ज्ञानेद्रियाँ, ये सब भी अज्ञान का कार्य हैं। यह सब प्रतीत कहाँ हो रहा है?चेतन में। इसलिए 'मैं' रूप से मन आदि उपाधियाँ दीखती हैं। विचार करके कहते हैं कि 'यह मन उपाधि है, मेरे से अलग है' पर सामान्य आदमी को 'मन दुःखी होता है' ऐसा नहीं लगता है, 'मैं दुःखी हो रहा हूँ' ऐसा लगता है। फिर इन ज्ञान के साधनों से पंचीकृत पंचमहाभूतों का कार्य यह सारा जगत् प्रतीत हो रहा है परन्तु बाह्य जगत् अपने से अलग होकर प्रतीत होता है। इन्द्रियों तक, अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियाँ-यहाँ तक तो अपने से अभिन्न होकर ज्ञान होता है कि 'यह मैं ही हूँ'। आँख ने देखा तो मैंने ही देखा। परन्तु घड़े को देखा तो मैंने अपने को देखा- ऐसा भान नहीं होता। जो यह स्थूल शरीर है चूँकि यह पंचीकृत पंचमहाभूतों का कार्य है इसलिए यह अपने से अलग भी दीखता है। कोई पीछे से जोर से मुक्का मारे तो 'मुझे मारा' ऐसा ही प्रतीत होता है। इन्द्रियों तक तो 'मैं' अभिन्न होकर ही प्रतीत होता है, बाह्य जगत् सारा अपने से भिन्न ही प्रतीत होता है। परन्तु शरीर ऐसी विचित्र चीज़ है जो अपने से अभिन्न भी प्रतीत होती है और भिन्न भी प्रतीत होती है। बाह्य जगत् हमको जाग्रत् में प्रतीत होता है। केवल मन के द्वारा प्रतीत होने वाला स्वप्न है और दोनों की प्रतीति नहीं है, तब दोनों की प्रतीति कराने वाला जो कारण है अज्ञान, वह सुषुप्ति में प्रतीत होता है। इस प्रकार कार्यों सहित कारण रूप अज्ञान को 'तमोगणेन' कहा। - अथवा तमोगुण, रजोगुण और सत्त्व गुण इन तीन के समूह को तमोगण कहा। इन सबको 'विद्रावित' नष्ट कर दिया यानी हटा दिया है। किस चीज से हटाया?'मुद्राविशेषेण' चिन्मुद्रा के द्वारा हटाया। जैसा पहले बतलाया था, कि चिन्मुद्रा में अंगूठा और तर्जनी को एक कर दिया और स्थूल, सूक्ष्म, कारणों को अलग कर दिया। तर्जनी अंगुली जब तक इन तीन शरीरों के साथ रहती है तब तक अंगूठारूपी ब्रह्म से एक नहीं है। जब इन तीन को छोडे तब यह ब्रह्म के साथ एक होती है। इस प्रकार इस मुद्रा के द्वारा तमोगुण को हटा दिया।

'मुनीनां मायां निरस्य' - श्रवण मनन करनेवाले मुनि हैं। जो मात्र परमात्मा के विषय में ही श्रवण एवं मनन करते हैं, विचार करते हैं, संसार के विषयों का मनन जो नहीं करते हैं वे ही मुनि हैं। संसार के विषय भी अनन्त हैं। इसलिए यदि इनका मनन प्रारम्भ करें तो फिर तुम्हें परमात्म तत्त्व के मनन करने का कोई समय नहीं मिलेगा। क्योंकि यह जो संसार की समस्याएँ हैं ये तो तुम्हारे सिर पर खड़ी होकर ज़बरदस्ती मनन करवाती हैं और एक के बाद एक आती ही रहेंगी। कभी ऐसा नहीं होगा कि सब समस्याएँ समाप्त हो जायँ, और ये कभी कम भी होने वाली नहीं हैं। इसलिए मुनिजन संसार की समस्याओं का विचार सर्वथा छोड़कर परमात्म-तत्त्व के

श्रवण एवं मनन में ही लगे रहते हैं। जिस प्रकार से किसी को धन कमाना होता है तो फिर वह घर की समस्याओं का विचार नहीं करता। घर में तो कोई-न-कोई काम आता ही रहेगा और यदि वह उन्हें संभालता रहेगा तो उसे धन कमाने के व्यापार का मौका ही नहीं मिलेगा। इसलिए जो धन कमाता है वह उस विचार को छोड़ देता है। जैसे जो कर्मचारी हर पाँच-चार दिन में घरेलु काम के कारण छुट्टी मनाये उसे मालिक निकाल ही देगा। या जो दुकानदार हर तीसरे दिन घर पर काम पड़ने पर दुकान बन्द रखे उसका व्यापार ठप्प ही होगा। इसी प्रकार परमात्मा की ओर चलें और हर छोटे-बड़े सांसारिक काम के लिए साधना स्थगित करते रहें तो क्या प्रगति होगी!

अतः संसार के कामों में लगा हुआ व्यक्ति परमात्मा की स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाता। इसलिए मुनि बनना पड़ता है। बाकी सब चिन्ताओं को छोड़कर केवल परमात्म-चिन्तन ही करना पड़ता है। इस संसार के कामों को सुलझाते हुए हमने अनन्त जन्म बिता दिये। हर जन्म में हमने काम करके पत्नी को खिलाया, बच्चों को बड़ा किया, उन्हें पढ़ाया। हर जन्म में यह ही धंधा करते रहे और इसका कोई अंत तो हुआ नहीं। इस बात को जब समझ लेता है कि 'यह तो मैंने बहुत से जन्मों में कर लिया, अब तक जिस काम को नहीं किया है, उसको करना है, तब वह मुनि बन पाता है।

जो मुनि परमात्म-सम्बन्धी ही श्रवण-मनन में लगा हुआ है, भगवान् दक्षिणामूर्ति अपनी दया से उसकी माया का निरास कर देते हैं। माया का निरास परमेश्वर ही कर सकते हैं। परन्तु इस दया के पात्र हम तभी होते हैं, जब हम केवल उनके श्रवण-मनन में लगें। इसलिए शास्त्रों में किसी कर्म का विधान नहीं किया है कि यह कर्म करोगे तो तुम्हारी माया हट जायेगी। कर्म से सभी प्रकार के कर्म शारीरिक, मानसिक, ऐन्द्रिय समझ लेना। किसी का भी विधान नहीं किया है जिसे करने से माया हट जायेगी। क्योंकि जो कुछ करोगे वह माया के अन्दर ही करोगे। शरीर, मन आदि सब कुछ अज्ञान का ही कार्य है। ईश्वर माया का उपयोग तो करते हैं, लेकिन माया के अधीन नहीं हैं। जीव माया के अधीन है क्योंकि उसे उपाधि से तादात्म्य है। ईश्वर माया को चलाते हैं, परन्तु माया से उनको तादात्म्य बोध नहीं है। इसलिए वे ही हमें इस संसार से निकाल सकते हैं। इसलिए कहा 'दयया मायां निरस्य'। लेकिन जो मुनि होगा उसी पर दया से वे माया का निरास कर देते हैं और अन्धकार को हटा देते हैं। जब अज्ञान व उसके कार्य को हटाया तो 'तत्त्वमसि इति बोधम् देवः विधत्ते' 'तू ही ब्रह्म है' यह ज्ञान कराते हैं। माया के कारण ही जीव और ईश्वर का भेद है। जब माया हट गई तो, 'मैं ही शिव हूँ' इसका बोध हो जाता है। जीव और ईश्वर का भेद करने वाली माया ही है। 'तत्' और 'त्वम्' का जो अभेद है उससे होने वाला जो वास्तविक बोध

है, वह महादेव की प्राप्ति कराता है। इस प्रकार से जब माया का निरास हो गया तब माया के कार्यों का भी निरास हो जाने से मोक्ष सिद्ध है।।३।।

अपारकारुण्यसुधातरङ्गैपाङ्गपातैरवलोकयन्तम्।
कठोरसंसारनिदाघतप्तान् मुनीनहं नौमि गुरुं गुरूणाम्।।४।।

कष्टप्रद संसाररूप गर्मी से तपे हुए मुनियों को अपार करुणामृत की तरंगरूप कटाक्षों से देखने वाले परमगुरु की मैं स्तुति करता हूँ।

मुनि परमेश्वर के श्रवण-मनन में ही कब लगता है?जब इस बात का पता लगता है कि यह संसार तो जेठ का महीना है, 'निदाघ' है, गर्मी का महीना है। गर्मी के महीने में भी शाम को कुछ गर्मी कम हो जाती है। गर्मी जाती नहीं है, कम हो जाती है। तब लोग बड़े खुश होकर कहते हैं कि 'आज रात में थोड़ी ठण्ड हो गई'। जिसे वे ठंडक कहते हैं वह भी बत्तीस-तैंतीस डिग्री का तापमान है। लेकिन दिन में सैंतालिस, अड़तालिस डिग्री था इसलिए बत्तीस-तैंतीस डिग्री के तापमान में ठंडक प्रतीत होती है। इसी प्रकार संसार के अन्दर दुःख ही दुःख है। जब दुःख कुछ कम हो जाता है तब कहते हैं सुख हो गया। आचार्य शंकर कहते हैं कि संसार के अन्दर सुख की गन्ध का लेश भी नहीं हैं। ऐसा क्यों है?भगवान् गीता में कहते हैं कि 'मैंने यह जो दुनिया बनाई है यह दुःख का आलय बनाया है जिसमें सुख नाम की चीज मैंने नहीं रखी'। जब इतने दुःख का आलय बनाया, तब तो यह इतना सुन्दर बन गया कि कोई इसको छोड़ना नहीं चाहता। यदि कहीं सुख हो जाता तब कोई इसे छोड़ ही नहीं सकता था। यह भगवान् की करुणा है कि कहीं सुख के चक्कर में लोग अपने वास्तविक रूप को भूल न जाएँ। इसलिए उन्होंने इसे दुःखालय बनाया। यह संसार दावानल अग्नि की तरह जलने वाला है 'निदाघ' है। सब गर्मी से तप्त हैं।

और यह संसार कैसा है?कठोर, इसे काटना बड़ा मुश्किल है। जैसे शीशम के पेड़ को तुम काटने की कोशिश करते हो तो वह बड़ी मुश्किल से कटता है, इसी प्रकार से यह संसार बड़ा कठोर है। लोग संसार की कठोरता को हमेशा देखते हुए भी इसे आश्चर्य समझते हैं। कहते हैं 'लड़के के लिए मैंने इतना किया वह मेरे से बात करने के लिए भी तैयार नहीं है।' लोग हमेशा कहते हैं कि यह संसार बड़ा कठोर है। फिर भी इसकी कठोरता तुम्हें कौन नहीं स्वीकारने देता?माया। माया ने ही तुम्हारे अन्दर एक आशा नाम की चीज छोड़ रखी है। कहते हैं- 'बड़े लड़के ने बात नहीं मानी। छोटा तो अच्छा है। बड़े का स्वभाव जब से उसने विवाह कर लिया, तब से बदल गया है।' छोटा लड़का तेईस-चौबीस साल का हो गया तो कहते हैं 'महाराज! इसका विवाह हो जाय'। हम कहते हैं कि बड़े वाले के लिए तुम हमेशा कहते

हो कि विवाह होने के बाद वह ऐसा हो गया, तब इसका विवाह क्यों कर रहे हो। कहते हैं 'नहीं-नहीं महाराज! सब एक जैसे नहीं होते हैं'। दूसरे का विवाह किया फिर वही घटना हो गई। अब तीसरे का भरोसा रखते हैं कि यह ठीक निकल जाएगा! आशा बँधी ही रहती है और वह संसार की कठोरता को समझने नहीं देती। काटने में अत्यन्त मुश्किल कठोर संसार है। वह गर्मी और ताप दे रहा है, इस बात को जिन्होंने समझ लिया, वे मुनि हैं। जिन्होंने संसार के स्वरूप को समझ लिया कि संसार ही निःसार है, इसमें कोई चीज सार नहीं है, सारा संसार ही निःसार है; संसार के अन्दर हमें जिस सार की प्रतीति हो रही है, वह सच्चिदानन्द है, अतः वही पाने योग्य है वे ही मुनि बनते हैं, परमेश्वर की चिन्ता में, श्रवण-मनन में लगते हैं। क्योंकि परमेश्वर करुणामय हैं अतः संसार से पार लगा देते हैं। 'अपारकारुण्यसुधातरङ्गैः''-उनकी दृष्टि अमृत का समुद्र है। सुधा अमृत को कहते हैं। उनके कटाक्ष अमृत की तरंगें हैं। उनकी जो सीमा से रहित कृपा है, वह ही सचमुच में अमृत है। वे हमें अत्यन्त दया की दृष्टि से देखते हैं। परमेश्वर की कृपा-दृष्टि से ही जीव का उद्धार है।

विष्णु भगवान् की कई जगह मूर्तियाँ देखो तो उनकी दो पत्नियाँ हैं। एक भूदेवी, दूसरी श्रीदेवी। भगवान् बीच में खड़े रहते हैं। प्रश्न उठता है उन्होंने दो पत्नियाँ क्यों रखी?पत्नी की तरफ देखना स्वाभाविक है। उनका कोई भक्त आये तब भगवान् यदि श्रीदेवी की तरफ देख रहे हैं तो उनको पता ही नहीं लगेगा कि भक्त आया है। उसका उद्धार तो तभी हो, जब भगवान् की कृपा-दृष्टि उसके ऊपर पड़े। जब वे श्रीदेवी से भूदेवी की तरफ देखेंगे तब भक्त बीच में खड़ा है, उसके ऊपर दृष्टि पड़ जायेगी। इसी प्रकार कुछ देर भूदेवी को देखकर श्रीदेवी की तरफ देखेंगे तब भी बीच में भक्त पर दृष्टि पड़ जायेगी। अतः श्रीदेवी और भूदेवी इसलिए हैं, ताकि उनकी तरफ देखते-देखते जीव का कल्याण हो जाय। भगवान् की प्रेम भरी एवं कृपा भरी दृष्टि है। वे इधर से उधर मुँह ले जाते हैं तो उनकी करुणा से भरी हुई दृष्टि भक्त पर पड़ती है जिससे भक्त का काम हो जाता है।

इसी प्रकार भगवान् दक्षिणामूर्ति अपनी अपार करुणा से भरे कटाक्ष के द्वारा मुनियों को देखते हैं। सारे गुरुओं के गुरु तो भगवान् शंकर ही हैं। उनको मैं नमस्कार करता हूँ जिनकी दृष्टि से ही मुनियों का उद्धार हो जाता है।।४।।

ममाद्यदेवो वटमूलवासी कृपाविशेषात्कृतसन्निधानः।
ओंकाररूपामुपदिश्य विद्यामाविद्यकध्वान्तमपाकरोतु॥५॥

विशेष कृपा से संनिकट होने वाले, वटके मूल में बैठे मेरे प्रिय

आदिदेव ओंकाररूप विद्या का उपदेश देकर मेरा अविद्यारूप अंधेरा दूर करें।

'तत्त्वमसि' से होने वाला जो बोध है उसका विषय बिना किसी उपाधि का आत्मा है। तत् और त्वम् इन दोनों की उपाधियों को हटाने पर ही 'तत्त्वमसि' का बोध हो सकता है। इसके लिए मनुष्य को शास्त्रों का श्रवण और युक्तियों से मनन करना जरूरी होता है तभी उपाधियों को हटाकर अद्वैत को पकड़ सकते हैं। लोक में भी सीधी बात करो, तब कोई भी समझ जाता है। जैसे 'एक गिलास पानी पिलाओ' कहें, तो कोई भी पिला देगा, सभी समझ जायेंगे। बहुत से लोग ऐसा नहीं करेंगे। वे कहते हैं 'बड़ी गर्मी है आजकल प्यास बहुत लगती है।' वहाँ यदि कोई बुद्धिमान् बैठा है तो वह समझ जायेगा कि अकस्मात् इनको प्यास क्यों याद आई और कहेगा कि 'मैं अभी पानी लाता हूँ।' जो समझदार नहीं होगा, वह भी कहेगा 'आजकल बड़ी गर्मी है, प्यास लगती रहती है।' ठीक इसी प्रकार से परमात्मा को यदि कोई सीधा वाक्य बतलाता तब तो श्रवण-मनन के लिए किसी योग्यता की झंझट पड़ती नहीं। परन्तु वह वाणी और मन का विषय नहीं है। इसलिए सीधी वाणी तो उसको प्रकट करेगी नहीं। अतः लक्षणा करने पर ही जिसका अर्थ समझ में आये ऐसा वाक्य ही इसका ज्ञान करा सकता है। भगवान् की कृपा से श्रवण-मनन की योग्यता वाला हर एक ऐसा मुनि तो हो नहीं पाता। इसलिए उसका भी उद्धार होवे, इसके लिए भगवान् वट वृक्ष के नीचे बैठते हैं। वट-वृक्ष सर्वत्र भारतवर्ष में सुलभ है और वे वृक्ष के नीचे बैठते हैं। 'वटमूलवासी' - अगर वे कोई बड़ा भारी महल बनाकर रहते तो साधारण आदमी का वहाँ प्रवेश ही नहीं होता। चौकीदार खड़े होते, दरवाज़े बन्द होते, जब खुलते तब अन्दर जाते। इसलिए वे वट वृक्ष के नीचे बैठे हैं, जोकि सबको सुलभ है। न कोई चौकीदार है और न बीच में कोई दरवाजा है। वटमूलवासी क्यों हैं?'कृपाविशेषात्कृतसंन्निधानः'। उनकी यह विशेष कृपा है। वे वट वृक्ष के नीचे बैठते हैं यह विशेष कृपा है। ठीक जिस प्रकार से पुराने ज़माने में कभी-कभी राजा छोटी जगहों में पहुँच जाते थे और सबसे पूछते थे कि 'क्या तकलीफ है' और जिसको जो कठिनाई होती थी उसे दूर कर देते थे। आजकल अदालत में जाओ, कोर्ट में मुकदमा दाखिल करो, जज सुनेंगे और तुम्हारी कठिनाई को दूर करेंगे। तुम्हारी कठिनाई को दूर करने के लिए राजा ने हाकिम बैठा दिया है, यह उसकी सामान्य कृपा है। तुम्हारे पास सीधे आकर तुम्हारी बात सुनकर तुम्हारा काम कर दिया- यह उसकी विशेष कृपा है। इसलिए कहा कि विशेष कृपा के द्वारा ही वे बिलकुल समीप में आकर अपने आप को बैठा देते हैं।

वे कौन हैं? 'मम आद्यदेवः'। वे आद्य देव हैं अर्थात साक्षात् परब्रह्म

परमात्मस्वरूप हैं। उनके बाद सारे देवता हैं। यह विशेष कृपा क्यों?मैं तो केवल इतना ही कहं पाया हूँ कि वे 'मम' मेरे हैं। 'वे मेरे हैं' इस सम्बन्ध मात्र से ही वे विशेष कृपा कर देते हैं! इसलिए बतलाया है कि पहले लगता है कि 'भगवान् का मैं हूँ'। भगवान का कुछ पता नहीं है, लेकिन भगवान् का हूँ। फिर होता है 'तेरा मैं हूँ' और अन्त में होता है कि 'तुम ही मेरे हो, तुम्हारे सिवाय मेरा कोई नहीं।' सृष्टि के आदिकाल से आज तक कितने जीवों का सम्पर्क हुआ! कोई बेटा बना, कोई बाप बना, कोई भाई बना, कोई बहिन बनी, कोई पत्नी बनी; सब बने, परन्तु मृत्यु के समय छोड़कर अलग हो गये। मैं उनको 'मेरा-मेरा' कहता रहा और वे सब छोड़कर चले गये। मैं फिर दूसरों को 'मेरा-मेरा' कहता रहा, वे भी छोड़कर चले गये। अनादिकाल से यही चक्कर चल रहा है। न जाने कितने मकान बनाये होंगे, कितने मकानों की रजिस्ट्री कराई होगी। मैंने अपने नाम से सब किया और मैं बड़ा खुश हुआ कि 'यह मकान मेरा हो गया।' किन्तु जैसे ही मरा वैसे ही उसके ऊपर अपना कुछ भी अधिकार नहीं रहा। अगर अपने लड़के से भी जाकर कहोगे कि 'मैं तेरा बाप था, यह मकान मेरा है, मेरे नाम की रजिस्ट्री थी।' वह कहेगा 'हट भाग यहाँ से, मेरा बाप बन कर आया!' सब चीजों को 'मेरा-मेरा' कहता रहा, लेकिन कोई मेरा नहीं रहा। परन्तु अपने अन्दर बैठा हुआ अन्तर्यामी वैसे का वैसा है, उसने कभी मेरा साथ नहीं छोड़ा। जन्म जन्मान्तर में वही एकमात्र ऐसा है जो हमेशा मेरे साथ रहता है। भगवान् गीता में कहते हैं 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'- सबके अन्दर बैठा हुआ आत्म-तत्त्व मैं हूँ। वह मेरा साथ कभी नहीं छोड़ेगा। इसलिए 'ममाद्यदेवो' आत्मदेव आदि देव मेरा है, ऐसा निश्चय करना है। मेरा वही है, उसके सिवा कोई नहीं। जब यह निश्चय करते हैं, तब उनकी विशेष कृपा होती है कि वट मूल के नीचे बैठते हैं जहाँ सरलता से उनकी सन्निधि हो जाती है।

'ओंकाररूपां विद्याम् उपदिश्य'- यद्यपि परमेश्वर के अनेक नाम हैं, परन्तु वेदों के अन्दर यह स्पष्ट बतलाया है और भगवान् भाष्यकार ने यह स्पष्ट लिखा है कि ओंकार परमेश्वर का बिलकुल सन्निहित नाम, अत्यन्त नजदीक का नाम है। उस नाम को लेने मात्र से ही वे प्रसन्न हो जाते हैं। हम लोगों का यह सिद्धान्त है कि नाम और नाम वाला अभिन्न होते हैं। ये अलग नहीं हैं, दोनों एक ही होते हैं। इसलिए जहाँ जीव की सोलह कलाएँ बतलाई और उनका विलय होना भी बतलाया, वहाँ कहा कि पन्द्रह कलाएँ तो लीन हो जाती हैं, केवल एक कला शेष रह जाती है, वह कला है तुम्हारा नाम। जब तुम मर जाते हो तो बाकी सब चीजें तुम्हारे साथ गई, लेकिन नाम रह जाता है। जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त, गाँधी, नेहरू नाम ही तो हैं, जोकि उन्हीं

लोगों की कला हैं और आज भी रह रहे हैं। इसलिए जब हम ओंकार का उच्चारण करते हैं तब मन अत्यन्त प्रसन्न होता है। हम उसके रूप को समझते नहीं हैं। इसलिए भगवान् शंकर की पूजा करने के बाद अन्त में कहते हैं – 'तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर'। हे भगवान् शंकर! सचमुच में आप कैसे हैं, इस बात को मैं नहीं जानता। इसलिए 'यादृशोऽसि महादेव' आप हैं, बस इतना ही जानता हूँ। आप जैसे हैं वैसे मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपको मैं जानकर नमस्कार नहीं कर रहा हूँ। ऐसे ही ओंकार का क्या अर्थ है?क्या ओंकार का रूप सच्चिदानन्द है?यह सब मैं कुछ नहीं जानता। पर इसे आपका नाम जानता हूँ। इसलिए आपके नाम का स्मरण करता हूँ और नाम नामी का अभेद है, इसीलिए आप का ही स्मरण करता हूँ। ऐसे समझ लो, तुम अपने पिताजी को पत्र लिखते हो कि 'आपका बड़ा स्मरण आता है।' क्या स्मरण आता है?स्मृति किस चीज की होती है? नाम की ही तो स्मृति होती है। कहते हैं कि अमुक बाजार का रसगुल्ला बहुत अच्छा है। क्या उस रसगुल्ले का स्वाद आ जाता है?केवल रसगुल्ले के नाम की स्मृति हो रही है। इसी प्रकार ओंकार का स्मरण जब हम कर रहे हैं तब हमें भगवान् का वह नाम ही याद आता है। ओंकार का क्या रहस्य है, अकार, उकार, मकार इत्यादि जो समझने वाले हैं, वे समझा करें, मैं यह सब नहीं समझता! भगवान् शंकर ने हमें बतला दिया कि 'ओंकार ही वह साधन है जिससे तू मेरे को प्राप्त कर लेगा' इसलिए मैं उसी को याद किये जा रहा हूँ। ओंकार की उपासना का अन्तिम नतीजा यही होता है कि 'आविद्यकध्वान्तम्'- अविद्या का जो अन्धकार है, वह नष्ट हो जाता है। 'अपाकरोतु' चूँकि वे आद्य देव हैं, इसलिए ओंकार का जो स्मरण करता है उसकी अविद्या के अन्धकार को वे दूर कर देते हैं। जो श्रवण-मनन के योग्य है उसे भी उनकी कृपा से ही ज्ञान होता है और जो श्रवण-मनन के योग्य नहीं है उसके भी अज्ञान अन्धकार को वे ओंकार के चिन्तन के द्वारा दूर कर देते हैं। 'ध्वान्तम्', ध्वान्त मायने अत्यन्त अन्धकार। जो अविद्या का अन्धकार है वह दूर होकर श्रवण, मनन की योग्यता प्राप्त होकर फिर अन्त में इन सारी चीजों की निवृत्ति हो जाती है। ओंकार का ध्यान करने से अज्ञानान्धकार नष्ट होता है। ओंकार के जप के द्वारा बुद्धि परमात्माकार बनने में समर्थ हो जाती है, जिसका उद्घोष भगवान् दक्षिणामूर्ति करते हैं।।५।।

कलाभिरिन्दोरिव कल्पिताङ्गं, मुक्ताकलापैरिव बद्धमूर्तिम्।
आलोकये देशिकमप्रमेयमनाद्यविद्यातिमिरप्रभातम् ।।६।।

जिनके अंग मानो चन्द्रकलाओं से बने हैं, जिनकी मूर्ति मानो मोतियों के गुच्छोंसे बनी है, अनादि अविद्यारूप अंधेरे के लिए प्रभातरूप अप्रमेय गुरुवर का मैं दर्शन करता हूँ।

चन्द्रमा तो एक ही है, उसके सोलह टुकड़े मिलकर चन्द्रमा नहीं बना है परन्तु धीरे-धीरे शुक्ल पक्ष में पूर्ण होता हुआ और कृष्ण-पक्ष में धीरे-धीरे कम होता हुआ देख कर यह कल्पना होती है कि एक-एक कला मानो जुड़ रही हैं। चन्द्रमा की जो कलाएँ हैं वे उसके कल्पित अंग हैं वास्तविक अंग नहीं हैं। सचमुच में तो एक अखण्ड चन्द्रमा है, लेकिन वह हमें इस प्रकार से दीखता है इसलिए हम कल्पना करते हैं कि कलाओं के द्वारा चन्द्रमा बना है। इसी प्रकार से 'देशिकम् आलोकये' - भगवान् दक्षिणामूर्ति जो तत्त्वज्ञान का उपदेश देने वाले हैं, उनका भी वह मायाविग्रह है। जिस प्रकार हम लोगों के हाथ, पैर, आँख, नाक, कान सब अलग-अलग होते हैं इसी प्रकार उनमें अलग-अलग अंग तो हैं नहीं, परन्तु हमको वैसे दीखते हैं इसलिए हम कल्पना कर लेते हैं कि ये सब अंग हैं। वस्तुतः वे मायाविग्रह होने के कारण बस एक ही अखण्ड दक्षिणामूर्ति हैं। 'मुक्ताकलापैः बद्धमूर्तिम्'- जैसे मोती सब अलग-अलग होते हैं, लेकिन धागे के द्वारा उन सबको बाँध दिया जाता है। इसी प्रकार से मुक्त पुरुष तो सारे अलग-अलग हैं, परन्तु उनकी शक्ति जो मुक्ति है, वह उस अधिष्ठान ब्रह्म के साथ एक होकर ही है। इसलिए मानो उस ब्रह्म तत्त्व के द्वारा सारे मुक्त पुरुष बँधकर रहते हैं, अर्थात् सारे के सारे उस ब्रह्म तत्त्व के अन्दर एक होकर रहते हैं। जैसे मोती अलग-अलग रहते हुए भी धागे से बँधे हुए हैं, वैसे ही मुक्ति चिदाभासों की है, चिदाभास अलग-अलग होते हुए भी मुक्ति का कारण जो ब्रह्म तत्त्व है, वह एक जैसा है इसलिए उसके साथ मानो सारे चिदाभास बंधे हुए हैं।

ऐसे देशिक को हम देख रहे हैं। वे वस्तुतः कैसे हैं यह नहीं जाना जा सकता है। 'अप्रमेयम्' मायाविग्रह को तो देख सकते हैं परन्तु जैसे नारद जी को भगवान् ने दर्शन दिया, फिर भगवान् लुप्त हो गये। नारदजी दुःखी होकर रोने लगे तब आकाशवाणी के द्वारा भगवान् ने कहा - 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मा पश्यसि नारद'- तुमने मुझे देखा था वह मायाविग्रह था, माया का रूप था। तुमने केवल माया को ही देखा। 'सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि'- सबका अधिष्ठान मेरा जो वास्तविक स्वरूप है, वह देखा नहीं जा सकता। परमात्मा कभी भी यथार्थ ज्ञान का विषय नहीं हो सकता, वह स्वयं ज्ञान है इसलिए ज्ञान का विषय ही नहीं है। इसलिए हमेशा ही अप्रमेय है। वह प्रमारूप है, प्रमेय नहीं है। जब तक वह नहीं दीखता है, तब तक माया का कार्य दीख रहा है। जब यह माया का कार्य हटकर इसका रूप दीखता है तब अज्ञान का अंधेरा हट जाता है। वही 'अनादि अविद्या तिमिर प्रभातम्' अनादि अविद्या का जो अन्धकार था, जिसके कारण माया का कार्य

दीख रहा था उसका नाशक प्रभात ज्ञान ही है। वह न दीखकर अब माया-विग्रह दीख रहा है लेकिन मायाविग्रह भी परमात्मा का है। वह प्रभात की तरह है। सवेरे के समय सूर्य का दर्शन तो नहीं होता, पर जो प्रकाश दीखता है वह सूर्य का प्रकाश है। सूर्य वस्तुतः कैसा है यह नहीं दीखता है लेकिन सूर्य का प्रकाश दीखता है तो रात्रि का अन्धकार घटने लगता है। सूर्य के आने पर सारा अन्धकार नष्ट हो जायेगा, केवल प्रकाशमात्र ही रह जायेगा। परन्तु प्रभात का समय ऐसा है, जब सूर्य का प्रकाश भी है और किञ्चित् अन्धकार भी है। यद्यपि सूर्य का दर्शन नहीं हुआ, परन्तु किरणों के द्वारा सूर्य का ज्ञान है। इसी प्रकार से अभी वह जो निर्विशेषस्वरूप तत्त्व है, उसका ज्ञान नहीं हुआ, क्योंकि वह अप्रमेय है, परन्तु माया उपाधिवाले परमेश्वर का दर्शन हुआ है। इसलिए उसे प्रभात कहा। भगवान् दक्षिणामूर्ति का जो साकार विग्रह है उसका दर्शन अविद्यारात्रि की समाप्ति का प्रभात है। जैसे प्रभात के बाद सूर्य उदय होने ही वाला है वैसे ही सविशेष ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर निर्विशेष का साक्षात्कार होगा ही, क्योंकि भगवान् ने प्रतिज्ञा कर रखी है कि 'जो इस प्रकार अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं 'ददामि बुद्धि योगं तं येन माम् उपयान्ति ते'- उनको मैं बुद्धि योग दे देता हूँ'।।६।।

स्वदक्षजानुस्थितवामपादं पादोदरालंकृतयोगपट्टम्।
अपस्मृतेराहितपादमङ्गे, प्रणौमि देवं प्रणिधानवन्तम्।।७।।

जिनकी दायीं जंघा पर बाँया पैर रखा है, पैर व पेट योगपट्ट से बँधे हैं, दायाँ पैर अपस्मार के शरीर पर रखा है उन ध्यानस्थ देव की स्तुति करता हूँ।

भगवान् दक्षिणामूर्ति का स्वरूप कैसा है?अपनी दाहिनी जाँघ पर बाँया पैर रखा हुआ है। दाहिना पैर नीचे है और बाँया पैर उनकी जाँघ पर रखा हुआ है। पाद और उदर को अलंकृत किये हुए योगपट्ट है। पेट और पैर को बाँधने वाले वस्त्र को योगपट्ट कहते हैं। जो दाहिना पैर है, वह अपस्मृति नाम के राक्षस के ऊपर रखा हुआ है। भगवान् दक्षिणामूर्ति हमेशा ध्यान में ही रत रहते हैं इसलिए 'प्रणिधानवन्तम्'। ऐसे उस दक्षिणामूर्ति देव को मैं नमस्कार करता हूँ। नमस्कार का वास्तविक तात्पर्य त्याग है। 'त्यागो हि नमसो वाच्यः'। नमः शब्द का अर्थ त्याग है। अपने अहंकार से लेकर शरीर और शरीर सम्बन्धी जितनी चीजें हैं, उन सबका त्याग करना ही दक्षिणामूर्ति को प्रणाम करना है। 'ये सब मेरा नहीं, आपका है', यह निश्चय त्याग है। जैसे याज्ञवल्क्य ने जब जनक को उपदेश दिया तो उपदेश सुनकर उसने कहा कि 'मैं आपको दस हजार गायों की दक्षिणा देता हूँ।' याज्ञवल्क्य ने कहा 'मेरे

पिता ने कहा था कि जब तक शिष्य का पूरा कल्याण न हो जाय, तब तक कोई दक्षिणा नहीं लेनी चाहिए। इसलिए तुम्हें और जो भी पूछना हो पूछ लो।' राजा जनक और कई प्रश्न करते गये और वे सबका उत्तर देते गये। अन्ततोगत्वा जब उनके सारे प्रश्न समाप्त हो गये, तब उन्होंने कहा कि 'मैं यह राज्य, सारे महल और स्वयं अपने आपको अर्पण करता हूँ।' तब याज्ञवल्क्य ने उस दक्षिणा को स्वीकार किया और स्वीकार कर कहा कि 'अब तुम मेरी आज्ञा के अनुसार ही चलोगे। यह सारा राज्य मेरा है, यह मानकर तुम राज्य करो।' अतः जब तक सर्वस्व दान नहीं दिया जाता, तब तक अन्तिम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता। इसलिए भाष्यकार बार-बार कहते हैं कि ज्ञान तो किसी को भी हो सकता है, पर ज्ञान-निष्ठा सर्वस्व त्याग किये बिना, संन्यास किये बिना नहीं होगी। जब तक 'मेरा कुछ है' तब तक सर्वस्व त्याग हुआ नहीं। मेरा शरीर है, मेरा धन है इत्यादि देहपर्यन्त और देह से बाहर जो कुछ भी मेरा समझ रहे हैं उस सब से मेरापन हटाकर परमात्मा को अर्पित करें तभी नमस्कार है। योगपट्ट इसलिए बाँधते हैं कि ध्यानकाल में देहस्थिति यथावत् रहे। दक्षिणामूर्ति का चरण जिस राक्षस पर रखा है उसका नाम है अपस्मार। भगवान् हमेशा एकाग्र रहते हैं अतः प्रणिधानवान् हैं। उनकी स्तुति ही कल्याणकारी है।।७।।

तत्त्वार्थमन्तेवसतामृषीणां, युवाऽपि यः सन्नुपदेष्टुमीष्टे।
प्रणौमि तं प्राक्तनपुण्यजालैराचार्यमाश्चर्यगुणाधिवासम्।।८।।

युवा होने पर भी तत्त्वज्ञानार्थ शिष्य बने ऋषियों को जो तात्त्विक अर्थ समझाने में सक्षम हैं, आश्चर्यजनक गुणों के आधार उन आचार्य की मैं पुराने पुण्यों के बल पर स्तुति करता हूँ।

भगवान् दक्षिणामूर्ति युवा मूर्ति क्यों हैं?निरन्तर ज्ञान का प्रवाह चल रहा है और निरन्तर ज्ञान के प्रवाह में किसी प्रकार का जीर्ण भाव नहीं आता। जरा का अर्थ होता है - जीर्ण हो जाना। उनका ज्ञान निरन्तर एक जैसा है इसलिए उसमें कभी भी जीर्णता नहीं आती। उनका जो युवापन है, वह ज्ञाननिष्ठा का द्योतक है। जहाँ भी ज्ञाननिष्ठा का प्रवाह चलेगा, वहाँ जीर्णता नहीं है। क्योंकि उनका शरीर माया का बना हुआ है इसलिए माया के कार्यों में जो जीर्णता होती है, वह उनमें सम्भव नहीं है। शरीर की दृष्टि ले लें, तो माया का शरीर होने से माया के कार्य तो जीर्ण होते हैं, लेकिन माया तो नित्य युवा ही बनी रहती है! इसलिए हर सृष्टि के प्रारम्भ में वैसी ही रचना फिर कर देती है। ऐसा नहीं होता कि जब दस हजार कल्प बीत गये तब माया से उतनी सृष्टि नहीं होगी, छोटी ही सृष्टि बनेगी। माया के कार्य जीर्ण होते हैं, माया जीर्ण नहीं होती। यद्यपि लोगों को आशा तो रहती है कि माया जीर्ण हो

जाती है! इसलिए कई बार लोग कहते हैं कि कुछ भी नहीं करेंगे, तो भी कभी तो मुक्ति हो ही जायेगी! अर्थात् माया फिर हमको नहीं बाँधेगी। किन्तु माया में कभी जीर्णता नहीं आती है। उनका देह मायिक होने के कारण जीर्ण नहीं है और नित्य ज्ञान होने से उनमें जीर्णता नहीं है। जवान होते हुए भी 'अन्तेवसताम् ऋषीणाम्' जो उनके अन्तेवासी हैं, उनके पास रहते हैं, उनके शिष्यभाव को प्राप्त हुए हैं, वे ऋषि हैं। 'ऋषीणाम्'; ऋषि शब्द का अर्थ पहले भी बतलाया था कि 'ऋषयः मंत्रद्रष्टारः' ऋषियों ने सबसे पहले मंत्र का दर्शन किया। जो भी योग का अध्ययन करते हैं वे उन मंत्रों का ही विचार करते हैं। इसलिए आदि ऋषि और जो योगाभ्यास करके अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर चुके हैं वे भी भगवान् के शिष्य हैं, निकटवर्ती हैं। अन्तःकरण की शुद्धि और वैराग्य की प्राप्ति के लिए श्रुति ने सबसे पहले वेदाध्ययन को ही रखा है। मनु इत्यादि ने भी सभी पापों की निवृत्ति के लिए वेदों के आवर्तन को कहा है। इसलिए सभी पापों की निवृत्ति, वेदावर्तन से होकर के बुद्धि शुद्ध हो जाती है। बुद्धि-शुद्धि का मतलब ही है वैराग्य की तीव्रता। बुद्धि के अन्दर कोयला मिट्टी तो लगता नहीं है! राग-द्वेष ही बुद्धि की अशुद्धि है। साधक जितना वेदाध्ययन करता है उतनी ही उसकी रागनिवृत्ति होती है। परन्तु यह वेदाध्ययन होना चाहिए अर्थज्ञान पूर्वक, तभी बुद्धि पूरी तरह से शुद्ध हो पाती है। अन्यथा, वेद के शब्द ही याद रहते हैं, अर्थ न जानने से उन वाक्यों से लाभ नहीं ले पाते। भगवान् ने गीता में कहा है कि वेद का तात्पर्य न समझने वाला 'अविपश्चित्' है, जो फलविषयक वाक्य हैं, बस उन्हीं की तरफ उसका ध्यान जाता है कि इस मंत्र से यह फल हो जायेगा और उस मंत्र से उस कार्य को करने की सोचता है। उस मंत्र में क्या कहा है, उसका विचार नहीं करता। इसलिए यहाँ 'ऋषि' कहा जा रहा है यानी अर्थपूर्वक मंत्रों का विचार करने वाले जो ऋषि हैं वे ही अन्तेवासी हैं।

'तत्त्वार्थम् उपदेष्टुम् इष्टे' तत्त्वज्ञान का वास्तविक अर्थ है जो तत्पदार्थ और त्वम् पदार्थ - इन दोनों के द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य प्रतिपादन किया है। भगवान् ने कहा है 'ओम् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणः' ॐ तत् और सत्- ये तीनों परमेश्वर को बतलाने वाले हैं। तत् का भाव तत्त्व; तत् हो गया परमेश्वर ब्रह्म, ब्रह्म का स्वरूप तत्त्व है। अर्थात् तत् और त्वम् इन लक्षणों के द्वारा जो बोध्य है उसके उपदेश करने में वे संलग्न हैं। ऐसे जो भगवान् दक्षिणामूर्ति हैं, उनको मैं सर्वस्व अर्पण करता हूँ। वे कौन हैं?'तम् आचार्यम्'। वे आचार्य हैं। आचार्य वह होता है जो शास्त्रों में से खास बातों को चुनकर शिष्य को समझाये। वेद आदि शास्त्रों के अन्दर हर बात फैली हुई है, अलग-अलग जगह बतायी गयी है। उन्हें स्मरण में रखकर अपनी बुद्धि से एकत्रित करना बड़ा कठिन है। आचार्य क्या करता है?उन सबको

इकट्ठा करके बतला देता है। साथ में उसके अर्थ को अपने जीवन में कैसे लाया जा सकता है, इसका उपाय भी बतलाता है। वह क्या तत्त्व है और उस तत्त्व की प्राप्ति के लिए कैसा आचार चाहिए, यह वह स्पष्ट कर देता है। वह ऐसा इसलिए कर पाता है क्योंकि उसने स्वयं उन साधनों को करके उस साध्य की प्राप्ति की है। जिसने जिसकी प्राप्ति नहीं की है वह उसके बारे में निःसन्दिग्ध होकर नहीं कह सकता है। भगवान् दक्षिणामूर्ति कैसा आचार किया जाये, यह भी बतलाते हैं और सारे शास्त्रों का रहस्य कहाँ-कहाँ क्या है, उसे भी बतलाते हैं तथा जिस निवृत्ति की विद्या का वे उपदेश देते हैं उस निवृत्ति को वे स्वयं करके दिखलाते हैं।

वे आश्चर्यजनक गुणों वाले हैं। आचार्य कहते हैं 'आश्चर्यगुणाधिवासम्' भगवान् में जो गुण हैं उनमें से एक गुण भी कहीं मिलना बड़ा आश्चर्य होता है। कठोपनिषत् कहती है- 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा'। उस परमब्रह्म परमात्मा को जो साक्षात् कर लेता है, वह भी एक आश्चर्य है। सामान्यतः लोग उसी वस्तु को सुनते हैं जिससे उनको कोई फल मिले। जो परमात्म तत्त्व है उससे तो कोई फल होना नहीं है, वह तो स्वयं फलरूप है। इसलिए लोगों को लगता है कि ब्रह्मतत्त्व, जिससे कुछ फल होता नहीं, कोई दक्षिणा मिलती नहीं, यह तो नीरस है। अतः इसको देखना आश्चर्य, इसको सुनना आश्चर्य, जो इसका उपदेश देता है वह भी आश्चर्य। जिसका उपदेश दिया नहीं जा सकता, उसका वह उपदेश देता है और जिसको समझा नहीं जा सकता जो अप्रमेय है, उसको शिष्य समझ लेता है। चूँकि यह ऐसा आश्चर्य है इसलिए, इसको सुनकर भी बहुत से लोगों की समझ में नहीं आता। जब तक तुम्हारी बुद्धि सारे संसार के रागों से हटी नहीं है, तब तक चाहे जितना समझाने वाला समझावे, ग्रहण नहीं हो सकता। सारे ही आश्चर्य के गुण उनके अन्दर हमेशा निवास करते हैं, वे ऐसे आचार्य हैं।।८।।

आगे जिस विग्रह को लेकर यहाँ वर्णन किया है उसे बतलाते हैं :-

एकेन मुद्रां परशुं करेण, करेण चान्येन मृगं दधानः।
स्वजानुविन्यस्तकरः पुरस्तादाचार्यचूडामणिराविरस्तु॥९॥

मेरे सामने वे उत्तम आचार्य प्रकट हों जिन्होंने एक हाथ में चिन्मुद्रा, दूसरे में फरसा और तीसरे हाथ में मृग धारण किये हैं तथा चौथा हाथ अपने घुटने के सामने रखा है।

दाहिने हाथ में भगवान् चिन्मुद्रा धारण किये हुए है और जो ऊपर का दाहिना हाथ है, उसके अन्दर परशु है। परशु काटने वाला शस्त्र होता है। परशु अर्थात् फर्सा जिससे चीज़ें कटती हैं। आत्मा और अनात्मा का विवेक परशु है। जो बिल्कुल ऐसा मिला हुआ है कि अलग करना असम्भव है,

विवेक के द्वारा उसको अलग किया जा सकता है। आत्मा और अनात्मा का जो बन्धन है, वह अविवेक से है। क्योंकि इन दोनों का आपस में सम्बद्ध होना असम्भव है इसलिए आचार्य शंकर ने कहा – 'तमःप्रकाशवत् विरुद्धस्वभावयोः'। अनात्मा तम का कार्य है, अज्ञानरूप अन्धकार का कार्य है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है। प्रकाश और अन्धकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता, फिर भी हो जाता है: सूर्य जेठ में जितनी तेजी से तपता है उल्लू को उतना ही उसमें अंधेरा ही दीखता है। इस बात को समझने के लिए कभी कमरे से एकदम बाहर निकल कर थोड़ा सूर्य की तरफ देखो तो उसका प्रकाशरूप थोड़ी देर के लिए तुम्हें अंधेरा दीखेगा, आँख काम ही नहीं करेगी। यद्यपि प्रकाश और अन्धकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता है फिर भी अन्धकार और प्रकाश का सम्बन्ध हो जाता है अर्थात् प्रकाश अन्धकाररूप से प्रतीत हो जाता है। इसलिए उसको काटने वाला फर्सा भौतिक फर्सा नहीं है। विवेक ही वह परशु है जिससे यह कट सकता है। इसलिए दाहिना हाथ चिन्मुद्रा लिये हुए और उसके ऊपर का हाथ विवेकरूपी परशु धारण किये हुए है। चिन्मुद्रा के द्वारा जिन तीन को अलग करना बतला रहे हैं, जीव ईश्वर की एकता समझने के लिए, उन्हें विवेक द्वारा ही अलग करना है। इसलिए जिस तरफ चिन्मुद्रा उसी तरफ के हाथ में परशु धारण किये हुए हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर को अलग कर सके। वह केवल विवेक से ही अलग होगा।

बाँया जो ऊपर का हाथ है उसके अन्दर हिरण है। हिरण अत्यन्त चंचल होता है, इसलिए उसको मृग कहते है। 'मृग्यते' वह हमेशा कुछ-न-कुछ ढूँढता ही रहता है। कभी पानी ढूँढेगा, कभी घास ढूँढेगा। इसी प्रकार मन भी अत्यन्त चंचल है, विषयों को ढूंढता ही रहता है। आजकल अखबार आते हैं, रविवार के अखबार में छः या आठ पूरे पृष्ठ होते हैं कि कौन सा पदार्थ कहाँ मिलता है। इसका मतलब है कि लोग ढूँढते ही रहते हैं कहाँ क्या मिलेगा। निरन्तर विषयों का चिन्तन करने वाला होने से मन ही मृग कहा गया है। उस मृग को वे हाथ से पकड़े हुए हैं, इसलिए मृग दौड़कर जा नहीं सकता। इसके द्वारा बतलायी चित्त की पूर्ण एकाग्रता। वृत्ति का निरोध हो जाय, यह ही सारे ध्यान आदि का उद्देश्य है। भगवान् दक्षिणामूर्ति के पास विवेकरूपी परशु और सर्वथा चित्त का समाहित होना दोनों ही हैं।

'स्वजानुविन्यस्तकरः'- जो बाँया निचला हाथ है, वह उनके घुटने के ऊपर जाँघ पर रखा हुआ है। जब मनुष्य पूर्ण शान्ति में होता है, तब स्वभाव से ही उसका हाथ अपने घुटने या जाँघ के ऊपर रखा जाता है इसलिए यह उनकी निश्चिन्तता को बतलाने के लिए है। ज्ञानमुद्रा भी है, विवेकरूप परशु

भी है, मनोमृग का नियंत्रण भी है, इन सबकी पूर्णता के कारण निश्चिन्तता है। ऐसे वे 'पुरस्तात्'- सामने ही हैं। मायाविशिष्ट रूप सामने अर्थात् विषय ही हो सकता है, उसका स्पष्ट दर्शन होता है। 'पुरस्ताद् आविरस्तु'- सामने ही वे प्रकाशित हो जायें, प्रकट हो जायें, उनका आविर्भाव हो जाये। वे कैसे हैं?'आचार्यचूडामणिः' पूर्व श्लोक में उनको आचार्य कहा था। यहाँ पर वे आचार्यों के चूडामणि कहे गये हैं। चूडा कहते हैं सिर के बालों को। इसी का अपभ्रंश आजकल 'जूड़ा' हो गया। उस जूड़ा के अन्दर मणि रखी जाती है, अत्यन्त तेजस्वी बढ़िया से बढ़िया मणि होती है, उसे वहाँ रखते हैं। जिस प्रकार अंग्रेज कोहिनूर को ले गये, उसे कहाँ रखा?सिर के ऊपर ताज पर, ताकि वह सभी के दिखाई दे। ऐसे भगवान् दक्षिणामूर्ति, आचार्यों के चूडामणि हैं अर्थात् सबसे श्रेष्ठ आचार्य हैं। वे हमारे सामने प्रकट होवें, क्योंकि उनका दर्शन होने से ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति वे करा देंगे।।९।।

आलेपवन्तं मदनाङ्गभूत्या, शार्दूलकृत्या परिधानवन्तम्।
आलोकये कंचन देशिकेन्द्रमज्ञानवाराकरवाडवाग्निम्।।१०।।

कामदेव के शरीर की राख जिनका अंगराग है, व्याघ्रचर्म जिनका पहनावा है, ऐसे अलौकिक गुरुराज का मैं दर्शन पाऊँ जो अज्ञानसमुद्र के लिए वडवानल हैं।

भगवान् शंकर जो सारे शरीर में भस्म लगाते हैं, वह भस्म किसका है?कामदेव का भस्म है। कामदेव को भस्म करने से भस्म क्यों बना?कामदेव ने प्रयत्न तो यह किया था कि उसे इस प्रकार बलि का बकरा न बनाया जाय। इन्द्र आदि देवताओं ने उसको प्रेरित किया, तो पहले उसने यही कहा कि उसे इस काम में न लगायें क्योंकि इसमें उसका विनाश अवश्यंभावी था। कामना इस बात को जानती है कि यदि यह परमात्मविषयक बन गई तो वह खुद ख़त्म हो जायेगी। इसलिए स्वयं वेद ने कहा है 'आत्मकामस्त्वकामः'। जब मनुष्य आत्मा की कामना वाला हो जाता है तब उसकी सारी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं। परन्तु इन्द्र आदि देवताओं ने उससे कहा कि वे उसकी मदद करेंगे और उसे समाप्त नहीं होने देंगे। इन सबके जोर देने पर वह हिम्मत करके गया। उसने प्रयत्न तो किया, पर जो होना था वही हुआ। वह केवल भस्म ही बच गया। इसलिए वेद ने कहा है कि देवताओं को प्रसन्न रखना चाहिए। देवताओं को नमस्कार आदि से प्रसन्न रखने पर वे परमात्म-विषयक कामना को होने देते हैं, अन्यथा विघ्न करते हैं। शास्त्रकारों ने कहा है कि यज्ञ, दान, तप आदि करने से ही परमात्मज्ञान की इच्छा पैदा होती है, अन्यथा परमात्मज्ञान की इच्छा होती ही नहीं। स्वर्गादि की इच्छा तो हो जाती है क्योंकि स्वर्गादि का जो वर्णन है, वह तो हमें ज्ञात

हुई वस्तुओं का वर्णन है। 'ऐसा दिव्य धाम होगा, ऐसा दिव्य रूप होगा, ऐसे दिव्य भोग होंगे' आदि कहते हैं, ये सारे हमारे जाने हुए विषय हैं, इसलिए उनके लिए तो प्रवृत्ति सम्भव है, और उसमें देवता विघ्न भी नहीं करते क्योंकि उनको पता है कि थोड़े दिनों के लिए वहाँ जायेगा, फिर तो हमारा पशु ही रहेगा। परन्तु यदि 'विविदिषा' हो गई, परमात्मज्ञान की इच्छा हो गई, तो जहाँ इच्छा परमात्मविषयक हुई, वहाँ वह श्रवण, मनन में लगेगा और उसको परमात्मज्ञान हो जायेगा तो उसके अन्दर कोई कामना ही नहीं रहेगी। क्योंकि आत्मज्ञान से जीव देवताओं के हाथ से निकल जाता है इसलिए इस मार्ग पर चलने के लिए उन्हें अनुकूल कर लेना चाहिए। देवादिकों की मदद से ही परमात्म विषयक कामना होती है। परमात्म कामना जब हो गई तो वह सब कामनाओं को समाप्त करके पशुभाव से निवृत्त कर देती है। इस प्रकार कामदेव का भस्म ही भगवान् शंकर की अंग-विभूति है, उसी का आलेप किये हुए हैं। प्रपंचोपशम शिवरूप के ऊपर माया आलिप्त नहीं रहती। ब्रह्माकार वृत्ति से ही उनका आलेपन होता है।

'शार्दूलकृत्या परिधानवन्तम्'। कमर में वे जो वस्त्र पहनते हैं वह सिंह की छाल है। ब्रह्माकार वृत्ति तो उनका साक्षात् वेष है। और जो वस्तु उनका परिधान है, उनको ढाँकती है, वह है सिंह या व्याघ्र का चर्म। यही वे धारण करते हैं। वेदान्त का मुख तो शेर का है और शेष शरीर बकरी का है। इसलिए वेदान्त को पहले व्यक्ति देखता है, तो उसको भयभीत करता है, क्योंकि जिस संसार को उसने अनादि काल से जीवन का लक्ष्य बनाया है, जिसके अन्दर ही वह घूमता रहा है, उसको जब कहा जाता है कि 'यह सारा का सारा केवल परमात्मा की माया के द्वारा दीखने वाला रूप है, इसमें वास्तविकता कहीं नहीं है' तो सामान्य व्यक्ति डर जाता है। आचार्य मधुसूदनजी कहते हैं कि द्वैत मिथ्यात्व का ज्ञान हो, तब आगे अद्वैत की प्राप्ति हो सकती है। अगर इस द्वैत में कहीं हमारी सत्य बुद्धि रह गई तो, फिर अद्वैत की सिद्धि हो ही नहीं सकती। यह जो द्वैत-मिथ्यात्व है, यह महान् भयंकर लगता है। सारी कामनाओं की निवृत्तिरूपी भस्म उनके शरीर पर साक्षात् है और उसके ऊपर जो परिधान है, वह द्वैत मिथ्यात्व का है। सारे संसार की कामनाओं की निवृत्ति तभी हो सकती है, जब द्वैत मिथ्यात्व ज्ञान, श्रवण और मनन से दृढ हो जाये। युक्ति से भी जगत् मिथ्या सिद्ध होता है। बौद्धों ने बिना श्रुति का सहारा लिए ही जगत् मिथ्यात्व को सिद्ध किया। जगत् मिथ्यात्व के लिए मनन पर्याप्त होना चाहिए किन्तु भाष्यकार कहते हैं कि युक्तिमात्र से विचार करने पर एक कमी रह जाती है, जगत् मिथ्यात्व तो सिद्ध होता है, परन्तु भ्रान्ति किसी-न-किसी अधिष्ठान को लेकर होती है। यदि यह मिथ्या है तो सत्य क्या है?यह प्रश्न उठता है। रस्सी

सच्ची है, इस ज्ञान से ही सर्प का बाध होता है। बिना रस्सी देखे चाहे जितना युक्ति से सोच लो, चाहे जितना निश्चय हो जाय, परन्तु कभी भी वह पूर्ण संतोष दे नहीं सकता। संसार भले ही झूठा हो पर यदि इसके सिवाय और कुछ है ही नहीं तो जीव झूठे का ही सहारा पकड़ेगा! इसलिए केवल युक्ति के सहारे नहीं, शास्त्र के अनुसार सत्य परमात्मा को समझकर संसार को मिथ्या जानना चाहिए। शास्त्रीय जगत्-मिथ्यात्व कैसा है?अधिष्ठान ब्रह्म को लेकर है। ब्रह्माकार वृत्ति वाले ब्रह्म का साक्षात् होने पर ही इस जगत् का सचमुच में पूर्ण रूप से बाध होता है। अधिष्ठान अत्यन्त दयालु है और परम आनन्द को देने वाला है। परन्तु यह जो जगत् मिथ्यात्व है, यह मनुष्य को भयंकर लगता है। बहुत से लोग परमेश्वर के परमानन्द को तो प्राप्त करना चाहते हैं, पर जगत् का बिना त्याग किये हुए! इसलिए कुछ लोगों ने इस प्रकार के लोगों की कल्पना को पुष्ट करते हुए मिथ्या विचार कर रखा है कि ऐसा भी हो सकता है कि भोग और मोक्ष दोनों एक साधन से मिल सकते हैं। आचार्य शंकर कहते हैं कि पटना में रहने वाला व्यक्ति एक साथ ही गंगोत्री पहुँच जाए और गंगासागर भी पहुँच जाए - यह कैसे सम्भव है?वैसे ही परमात्मा की प्राप्ति भी हो जाय और जगत् की कामनाएँ भी पूर्ण हो जायें, यह असम्भव है। यह वैसी ही बात है जैसे एक बार दिल्ली में एक रेल गाड़ी के डिब्बे में बैठे तो एक सरदार जी साथ वाले यात्री से पूछते हैं कि वे कहाँ जा रहे हैं। उसने कहा कि वह कलकत्ता जा रहा है। सरदार जी बोले 'वाह! विज्ञान ने कितनी प्रगति की है कि एक ही गाड़ी में मैं मुम्बई जा रहा हूँ और तुम कलकत्ता जा रहे हो!' जैसे यह असम्भव है इसी प्रकार से भोग और मोक्ष दोनों एक साथ मिलना असंभव है। इसलिए चाहे जितना भयंकर शार्दूल का परिधान होवे, परन्तु उसको जब तक नहीं देखेंगे तब तक उसमें छिपे हुए ब्रह्माकारवृत्ति वाले शिव को नहीं देख सकते।

'अज्ञानवाराकरवाडवाग्निम्' - समुद्र में जो अग्नि रहा करती है, उसको कहते हैं 'वाडवाग्नि'। समुद्र की अग्नि जरा विचित्र सी लगती है क्योंकि जहाँ पर जल ही जल है, वहाँ पर अग्नि कहाँ से होगी! परन्तु कोई इंग्लैण्ड जाये तो उसे अद्भुत चीज देखने को मिलेगी- इग्लैण्ड के किनारे से पानी इतना गरम निकलता है कि हाथ डालो तो जल जाये! उस धारा के दोनों तरफ समुद्र का बिल्कुल ठंडा पानी है। परन्तु उसमें गरम पानी है। ऐसा भी नहीं है कि गर्मी में ऐसा होता हो। सर्दियों में दोनों तरफ का जो समुद्र का पानी है, वह तो ठण्डा हो जाता है और उस धारा का पानी वैसा ही गरम चलता है। उसी की कृपा से इग्लैण्ड इतना बड़ा समुद्र का नियामक बन सका। यूरोप के अन्दर जितने जर्मनी, फ्रांस इत्यादि देश हैं, उनके जहाजों के बन्दरगाहों के आसपास बर्फ जम जाती है इसलिए सर्दी के अन्दर कोई भी जहाज चल नहीं

सकता परन्तु गर्म धारा की कृपा से इंग्लैण्ड के किनारे बंदरगाह हमेशा साल भर खुले रहते हैं। केवल वहीं नहीं अन्यत्र भी ऐसा है। उस पानी को गरम करने वाला कौन है?समुद्र के अन्दर ही वह अग्नि मौजूद है जो उसको खूब तेज़ गरम कर रही है। इसलिए समुद्र के अन्दर अग्नि को मानना ही पड़ता है।

'अज्ञानवाराकरवाडवाग्निम्' अज्ञान का समुद्र है; जैसे समुद्र का अन्त नहीं, वैसे ही अज्ञान का अन्त नहीं। अनन्त कल्प बीत जाते हैं, परन्तु अज्ञान का प्रवाह तो ऐसा ही रहता है। अज्ञान के कार्य उत्पन्न होते ही चले जाते हैं, फिर महाप्रलय के समय अज्ञान में लीन हो जाते हैं। लेकिन फिर काल आने पर पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। यह जो अज्ञान समुद्र किसी तरह ख़त्म नहीं हो सकता इसी के पेट में अग्नि पड़ी हुई है। इसी प्रकार इस अज्ञान रूपी समुद्र में बुद्धि तत्त्व है। इस अज्ञानरूपी समुद्र के अन्दर ही श्रुति तत्त्व है। श्रुति तत्त्व और बुद्धि तत्त्व मिलकर इस अज्ञान को नष्ट कर देते हैं। ये हैं अज्ञान के द्वारा अज्ञान के अन्दर ही, अज्ञान के ही कार्य हैं, बुद्धि भी श्रुति भी अज्ञान के ही कार्य हैं, लेकिन अज्ञान के कार्य होने पर भी ये ऐसे हैं, जो समुद्र में पड़े हुए भी अग्निवाले हैं और अग्नि ही जल का शत्रु होती है, नष्ट करनेवाली होती है। इसलिए भगवान् दक्षिणामूर्ति अज्ञान के समुद्र में रहने वाले वाडवाग्नि की तरह हैं। ऐसे 'देशिकेन्द्रम्'– उपदेश करने में जो अत्यन्त कुशल हैं। श्रेष्ठ को इन्द्र कहते हैं। जैसे राजाओं में श्रेष्ठ होवे तो, उसको भूपेन्द्र कहते हैं। इसी प्रकार उपदेश देनेवालों में वे इन्द्र अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी श्रेष्ठता शास्त्रों ने बतलाई है। भगवान् वेद व्यास बड़े सामर्थ्यवान थे उनके पुत्र शुकदेव जी पैदा हुए तो व्यासजी ने सोचा उसका जनेऊ संस्कार किससे करवायें। शुकदेव जी को लेकर भगवान् शंकर के पास गये और बोले 'महाराज! आप इसे उपदेश दीजिए'। भगवान् शंकर बोले 'अरे! तुम्हारा एक ही बेटा है। मेरे से उपदेश न दिलवाओ क्योंकि यदि यह मेरे से उपदेश लेगा तो, किसी काम का नहीं रहेगा आगे तेरा कुल नहीं चलायेगा। यह तत्त्वज्ञानी होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जायेगा।' व्यास जी ने कहा 'कोई बात नहीं, आप इसे उपदेश कीजिए।' भगवान् शंकर ने उन्हें उपदेश कर दिया। उपदेश सुनते ही उनको ज्ञान हो गया। व्यास जी के पुत्र थे, शुद्ध अन्तःकरण तो था ही। ज्ञान होने के बाद, वे चल दिये। व्यास जी ने आवाज दी– 'अरे बेटा! बात तो सुनो।' शुकदेव बिल्कुल परमात्मा में लीन थे। परन्तु जो परमात्मा में लीन होता है, वह सबके शरीरों में चला जाता है। इसलिए वृक्षों में स्थित जो परमात्म–तत्त्व था, उसी ने उनको उत्तर दिया कि 'अरे! तुम किसे आवाज दे रहे हो?'तरवोऽभिनेदुः, तं सर्वभूतहृदयम्'। इसलिए वे किसी को उपदेश देवें और उसको ज्ञान न हो,

यह हो नहीं सकता। परन्तु वे ऐसे देशिकेन्द्र हैं कि जैसे बड़े लोग कहीं अन्नक्षेत्र खोल देते हैं, वहाँ कोई चला जाये तो उसे भोजन मिल जाता है। वहाँ कोई नहीं पूछता कि 'तुमने क्या काम किया है?तुम कौन हो?कहाँ से आये?' यह सब नहीं पूछते। वहाँ जाकर पंक्ति में खड़े हो जाओ, बस जब तुम्हारी बारी आयेगी, तुम्हें भिक्षा डाल देंगे। अर्थात् जहाँ बिना योग्यता पूछे हुए अन्न दे दिया जाता है, उसे अन्नक्षेत्र कहा जाता है। भगवान् शंकर के पास तो असली अन्न मुक्ति है। इसलिए उन्होंने इस संसार में एक मुक्ति-क्षेत्र खोल रखा है। काशी में जाकर जो मरेगा, उसको वे मुक्त कर देते हैं क्योंकि वे उसको उपदेश देते हैं और उनके उपदेश देने के बाद फिर मुक्ति में कुछ रुकावट हो नहीं सकती। इसलिए उसको मुक्ति-क्षेत्र कहा जाता है। कई लोग प्रश्न करते हैं कि क्या वहाँ बुरे आदमी को भी मुक्ति मिल जाती है?हम हमेशा कहते हैं कि तुम कभी काली कमली वाले क्षेत्र में खड़े होकर देख लो, अन्न मिलता है कि नहीं। जो खड़ा है उसको जरूर मिलता है। योग्यता पर ध्यान देकर जहाँ दिया जायेगा वह अन्न-क्षेत्र नहीं है। इसी प्रकार से वह मुक्ति क्षेत्र इसीलिए है, वहाँ तुम्हारी कुछ भी योग्यता देखी नहीं जाती। भगवान् शंकर के इस ज्ञान के तुम योग्य बन सको, इसलिए वहाँ काल भैरव रहते हैं जो कुछ समय में ही तुम्हारी शुद्धि कर देते हैं हर हालत में तुमको वहाँ मुक्ति मिलेगी ही। शुद्धि भी काल भैरव ही तुम्हारी कर देंगे। उसके लिए भी तुम्हें कुछ नहीं करना है। फिर, देशिकेन्द्र उपदेश करेंगे और तुम्हारा काम हो जायेगा।

• ऐसे जो देशिकेन्द्र हैं, उनको 'आलोकये'- उनका मैं दर्शन कर लूँ। वे देशिकेन्द्र कैसे हैं?'कंचन'। वे ऐसे विलक्षण हैं कि चाहे मैं उनका जितना वर्णन करूँ, वे कभी भी वर्णन किये नहीं जा सकते। जैसा पुष्पदंताचार्य ने कहा कि हे भगवान् शिव! तुम्हारी महिमा तो पूरी तरह से ब्रह्मादि देवता भी नहीं बतला सकते। जैसे आकाश के पार बड़े-बड़े बाज भी नहीं जा सकते, चाहे जितना उड़ें और मच्छर भी नहीं जा सकते। परन्तु उड़ते तो दोनों ही हैं। मच्छर अपनी शक्ति के अनुरूप, बाज अपनी शक्ति के अनुरूप। पार कोई नहीं पा सकता। इसी प्रकार परमेश्वर ऐसे विलक्षण हैं, उनकी महिमा कितनी है, इसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही वर्णन किया जा सकता है। हमने यहाँ जो इस श्लोक में कह दिया, यह उनका पूर्ण वर्णन नहीं हो गया। वे तो 'कंचन' विलक्षण ही रहते हैं।।१०।।

चारुस्मितं सोमकलावतंसं, वीणाधरं व्यक्तजटाकलापम्।
उपासते केचन योगिनस्त्वामुपात्तनादानुभवप्रमोदम्॥११॥

मनमोहक मुस्कान वाले, चन्द्र रेखा से सजे मस्तक वाले, वीणा धारण

करने वाले, प्रकट जटाओं वाले, नाद के अनुभव से आनंद ग्रहण करने वाले आपकी कुछ योगी उपासना करते हैं।

दूसरे श्लोक में कहा था– 'मन्दस्मितभूषितेन'। केवल मन्द ही स्मित नहीं है देखने में भी मन को अत्यन्त मोहने वाला है। भगवान् शंकर का स्मित क्या है?बतलाया था कि इस संसार के सारे कार्य कलापों को देखकर उनको मुस्कुराहट आती है। जैसा कबीर ने कहा है कि संसार उल्टा ही है। 'चलती को गाड़ी कहें कढ़े दूध को खोया।' कबीर कहते हैं कि गाड़ी का मतलब होता है जो एक जगह तुमने गाड़ दिया जैसे झंडा गाड़ा। पर गाड़ी किसको कहते हैं?चलने वाली को! मोटर आदि ये सब गाड़ियाँ कही जाती हैं। कोई चीज खो जाय, उसे कहते हैं खोया। दूध को उबाल कर पानी चला जाता है और असली ठोस माल रह जाता है, जिसे खोया कहते हैं। इस संसार में सब चीजें देखी जायें तो विपरीत ही हैं! इस विपरीतता को देखने से उनके अन्दर जो स्मित है, वह अत्यन्त सुन्दर है। विरोधी चीजों को देखकर जो एक तरह की मुस्कुराहट आती है उसमें विशेष सुन्दरता होती है। कई बार दूसरे को कुछ बेहूदा काम करते देख कर भी मुस्कुराहट आती है। रास्ते में चल रहा है और रास्ते को ध्यान से देखे नहीं, केले के छिलके के ऊपर उसका पैर पड़े और धड़ाम से गिर पड़े। इस प्रकार गिरने वाला जितने बढिया कपड़े पहने होगा, उतनी ज्यादा हँसी आती है। परन्तु वहाँ दूसरे के दुःख को देखकर आई है इसलिए उस स्मित में सौन्दर्य नहीं होता। उल्टा, दूसरे कहेंगे कि हँसो नहीं। भगवान् शंकर इस प्रकार की हँसी वाले नहीं हैं। हम लोगों के अज्ञानवश किये बेवकूफी के काम देखकर उनको हँसी आती हो, ऐसा नहीं है। उनको तो हमारे उल्टे आचरणों से हँसी आती है। सुख कहाँ रहता है?शास्त्रकार कहते हैं कि सुख तुम्हारे अन्दर है। संसार की किसी चीज़ में सुख नहीं है। सुख तो तुम्हारे में है। परन्तु, यह बात जल्दी समझ में नहीं आती है कि हमारे में सुख कैसे है?विचार करो– रसगुल्ला, गुलाब जामुन, हलवा इन सबमें मिठास क्यों है?चीनी डली है, इसलिए मिठास है। अगर इनमें से किसी में भी चीनी न डालो तो मीठे होंगे क्या?इसलिए मिठास करनेवाली चीनी है। सभी मीठी चीजों में चीनी मिलती है, इसलिए उसी को वास्तविक मिठास कह सकते हैं। ऐसे ही अलमारी में पड़ा हुआ रसगुल्ला क्या सुख वाला है?रसगुल्ला तो जब तुम्हारी जीभ पर आ जाय, तुम्हारे मन की वृत्ति बन जाय, तुमको स्वादिष्ट लगे, तब सुख वाला है। जहाँ–जहाँ तुम्हारा सम्बन्ध है वहाँ–वहाँ सुखवाली चीज प्रतीत होती है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है – 'न खलु सुखत्वम् जातिर्यस्य यद्इष्टं तस्य तदेव सुखम्'। सुख कोई जाति नहीं है। किसी चीज में सुख नहीं है। जिसको जो चीज अच्छी लगती है, उसके लिए वही सुखवाली चीज है।

अच्छा लगना– यह तो तुम्हारे हृदय में है। तुमको दिल से कोई चीज अच्छी लगेगी तभी वह चीज़ सुख देगी। जैसे मिठाई का कारण चीनी, वैसे सुख का कारण तुमको अच्छा लगना और यह अच्छा लगना तुम्हारे जिम्मे रहेगा। अपने हृदय के अन्दर भरा हुआ है सुख, फिर भी मनुष्य दूसरी जगह सुख ढूँढने जाता है कि 'इस चीज से सुख हो जायेगा', इस विरुद्ध आचरण को देखकर भगवान् शंकर को मुस्कराहट आती है।

और वे कैसे हैं?'सोमकलावतंसम्' अर्थात् चन्द्रमा की कला को अपने सिर के भूषण के रूप में रखे हैं। सब प्राणियों को आशा से रहित नहीं होना चाहिए। लोग कहते हैं कि 'अपना टेढ़ापन छोड़ो, तब भगवान् के पास जा सकते हो।' सिर के ऊपर पहना हुआ चन्द्रमा कहता है कि 'मुझे देखो, मैं कितना टेढ़ा हूँ, इससे ज़्यादा टेढ़े तो तुम लोग नहीं हो। किसी के ऊपर कलंक लगा हुआ हो तो सोचते हैं कि वह भगवान् की तरफ कहाँ जा सकता है? मुझे देखो, मेरे ऊपर कितना बड़ा कलंक है।' अगर तुम चन्द्रमा को देखो तो उसके बीच में कालिमा नज़र आती है। यूरोपवाले कहते हैं– 'कोई बुढ़िया बैठकर चरखा कात रही है।' हमारे यहाँ कहते हैं– 'कोई बड़ा सा खरगोश बैठा हुआ है।' हर हालत में चन्द्रमा के कलंक को सब जानते हैं। जिन्होंने पुराण आदि पढ़े हों, वे इसके सबसे बड़े कलंक को जानते हैं कि उसने गौतम ऋषि की पत्नी के साथ दुराचार किया था, इसीलिए शाप मिला था। वही चन्द्रमा, उनके सिर पर बैठा हुआ कह रहा है कि 'मेरे जैसा कलंकी, मेरे जैसा टेढ़ा भी परन्तु भगवान् शंकर की शरण में गया तो उन्होंने मुझे अपने सिर का भूषण बना लिया। अतः तुम चाहे जितने बुरे से बुरे हो, भगवान् शंकर के पास जाने से भय मत करो। वे अवश्य ही तुम्हारा उद्धार करेंगे।' उनके सिर का भूषण जो चन्द्रमा है, वह सब लोगों को कह रहा है कि निर्भय होकर उनकी तरफ जाओ।

कुछ योगी लोग नादब्रह्म के उपासक हैं। योनिमुद्रा को बाँधकर दक्षिण कर्ण में ध्वनियों को सुनते हैं। हमारी रीढ़ की हड्डी के अन्दर जो सुषुम्ना नाड़ी है, सारे संगीत का प्रधान केन्द्र वही है। काशी में एक महात्मा थे, वे ऐसे ही बैठकर सुन्दर से सुन्दर राग रागनियों को अपने शरीर से प्रकट करते थे। रीढ़ की हड्डियों की जो शिराएँ हैं, उनको वे अपने प्राण वायु के द्वारा बजाते हैं। ध्यान से ब्रह्म वीणा को देखो तो, वह ठीक इसी प्रकार की है। हमारे मेरु दण्ड के अन्दर जो वीणा है, उसी का वह वीणा बाह्य प्रतीक है। 'वीणाधरम्' हाथ में वे वीणा को लेकर यह बतलाते हैं कि तुम्हारे अन्दर जो वीणा है, उसको बजानेवाली प्राण शक्ति मेरा ही स्वरूप है, मैं ही उसको धारण किये हुए हूँ।

'व्यक्तजटाकलापम्' जटाएँ उनकी सर्वथा खुली हुई हैं। जटा के द्वारा तपस्या को बतलाया जाता है। जटा में क्या करते हैं?सारे बालों को एकत्रित करके एक सूत्र में बना देते हैं, फिर उसको गोल-गोल करके बाँध लेते हैं। सिर से निकलने वाले बाल मानो, हमारे सिर से ही निकलनेवाले विचार हैं। एक-एक बाल मानो एक-एक ज्ञान की वृत्ति है। जैसे बालों की गिनती नहीं, वैसे ही कितने विचार आते हैं, उनका भी कोई अन्त नहीं। उन बालों को सर्वथा एक कर देना ही तपस्या है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है - 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यम् परमं तपः'। मन-इन्द्रियों को एकाग्र करना, यही वास्तविक तप है। इन जटाओं को भगवान् शंकर ने दक्षिणामूर्ति रूप में बाँधकर नहीं रखा है, व्यक्त रखा है अर्थात् सारे ही विचारों को एकाग्र करना ही व्यक्त रूप है। उपनिषत् आदि के अन्दर परमात्म-तत्त्व को बतलाया है, परन्तु वह परमात्म तत्त्व जगह-जगह फैला हुआ है। ब्रह्मसूत्र के अन्दर परमात्म तत्त्व के प्रतिपादक उन सब स्थलों को एक जगह बाँध दिया है। व्यास जी का सूत्र है- 'तत्तु समन्वयात्' ब्रह्म में ही सबका समन्वय करना है। इसलिए पहले अध्याय का नाम ही है समन्वयाध्याय। जिसके अन्दर श्रुति, केवल ब्रह्म को एकमात्र जगत् का कारण प्रतिपादित कर रही है, इसका विस्तार से निरूपण किया है। 'केचन योगिनः त्वामुपासते' - कुछ योगी लोग आपकी जो वीणाधर मूर्ति है, उसकी उपासना करते हैं। अर्थात् नादयोग का अभ्यास करते हैं। 'उपात्तनादानुभवप्रमोदम्' वीणादक्षिणामूर्ति नाद सुनकर प्रसन्न रहते हैं, उनके उपासक भी नादानुसन्धान में तत्पर रहते हैं। मेरुदण्ड के अन्दर होने वाले नाद का वे अनुभव करते हैं। कई प्रकार की ध्वनियों को सुनते हुए, अन्त में नाद ध्वनि को सुनते हैं। यह अत्यन्त मोद देता है क्योंकि चित्त को एकाग्र कर देता है। यह दो ही वस्तुएँ हैं जिनके द्वारा परमात्मा के ध्यान में गम्भीरता आती है- नाद और बिन्दु। प्रकाश का जो बिन्दु है, वही प्रकट होकर भगवान् के सारे दिव्य विग्रहों का रूप धारण करता है। अगर विचार करके देखो तो जो भी हमें दीखता है, वह अनेक बिन्दुओं का ही विस्तार है। कुछ बिन्दु एकत्रित हुए तो लकीर बन गई, कुछ बिन्दु एकत्रित हुए तो चक्र बन गया, अण्डाकार बन गया। बिन्दु ही मिल कर विभिन्न आकार बनते हैं। मूल रूप तो बिन्दु ही हुआ रूपों का। इसलिए प्रकाश का बिन्दु रूप-ध्यान वालों के लिए प्राप्त करने लायक है। इसी प्रकार से सारे नादों का जो बीज है, वह तार ही है। तार का स्थूल रूप ॐ है। ॐ में तीन ध्वनियाँ हैं अ, उ और म्। अकार तो कंठ से आता है। उकार मूर्धा से आता है और मकार होंठों से आता है। कंठ से लेकर के होंठों तक जितने ध्वनि के स्थान हैं, वे सब इसमें आ जाते हैं। मकार जैसे होंठों से

सम्बद्ध है वैसे ही वह नासिका से भी है। इसलिए नासिका की ध्वनियाँ भी ॐ में आ गयीं।

उपनिषदों के अन्दर बतलाया है कि इष्ट विषय, सामने आ जाय तो भी एक सुख होता है। उसको मोद कहते हैं। रसगुल्ला जीभ पर आ जाय तो प्रमोद, पूरा सुख होता है। अगर कोई रसगुल्ले को तुम्हारे होठों पर भी लगा दे तो परम सुख नहीं होता है। होठों पर लगाकर हटा दे तो उल्टा कहोगे कि 'अरे! क्यों छाती जला रहे हो।' अतः प्रमोद वह हुआ जो रसगुल्ले को जीभ पर लाने से होता है, जब उसको खाते हो, तब प्रमोद होता है। इसी प्रकार से नाद के बारे में जानने से तो मोद होता है और फिर नाद का अनुभव करने से प्रमोद होता है। इस नाद का अनुभव कैसे होता है?'उपात्त'। जब उसे पूरी तरह से ग्रहण किया जाय अर्थात् समझ कर अभ्यास किया जाय। कुछ लोग रूप के उपासक हैं, वे बिन्दु के मार्ग में जाते हैं। कुछ नाद के मार्ग में जाते हैं इसलिए इस नाद के द्वारा ही उपासना करते हैं। क्योंकि आपका ही वीणाधर रूप नादानुभव से प्रमोदमग्न है इसलिए आपके उपासक योगी भी नादोपासना करते हैं।।११।।

उपासते यं मुनयः शुकाद्या निराशिषो निर्ममताधिवासाः।
तं दक्षिणामूर्तितनुं महेशमुपास्महे मोहमहार्तिशान्त्यै॥१२॥

जो सब आशाएँ छोड़ चुके हैं, ममत्वराहित्य जिनमें प्रतिष्ठित है, ऐसे शुकादि मुनि जिनकी उपासना करते हैं उन दक्षिणामूर्ति-शरीरधारी महेश की मोहरूप महान् दुःख की शान्ति के लिए हम उपासना करते हैं।

शुक, वामदेव आदि श्रवण मनन के मार्ग से परमात्मा की उपासना करते हैं। जैसे नाद उपासना है, वैसे ही श्रवण-मनन भी उनकी उपासना है। नाद उपासना के अन्दर चित्तवृत्ति का नियंत्रण प्रधान है और इस उपासना के अन्दर मनन का प्राधान्य है। मनन करते करते मन की ऐसी एकाग्रता हो जाती है कि मन, मन नहीं रह जाता। जिस प्रकार ध्यान करते-करते, ध्याता और ध्येय लुप्त हो जाते हैं, केवल ध्यान मात्र ही रह जाता है, उसी प्रकार श्रवण-मनन करते-करते जिसका श्रवण मनन किया जाता है वही रह जाता है। न श्रोता-मन्ता रह जाता है न श्रवण-मनन रह जाता है, केवल तत्त्व ही रह जाता है। ऐसे मुनि कौन हैं?शुक वामदेव आदि। उपनिषदों के अन्दर दो मार्ग बतलाये हैं - एक पिपीलिका चींटी की तरह धीरे-धीरे चलने का मार्ग और दूसरा है, विहंगम मार्ग, पक्षी की तरह एक जगह से उड़कर सीधे दूसरी जगह जाना। शुकदेव का विहंगम मार्ग बतलाया है। शुकदेवजी भगवान् शंकर

के पास गये, उन्होंने उन्हें दीक्षा दी। ज्ञानी होकर वे उस परमात्म तत्त्व में लीन होने को चल दिये। यह तो विहंगम मार्ग है। जीव-भाव से उड़कर सीधे परमात्म-भाव में पहुँच गये। जीव भाव छूट गया और ब्रह्म भाव आ गया। एक शरीर के अन्दर जो रहने वाला था वह सारे शरीरों में रहने वाला हो गया। इसको विहंगम मार्ग कहते हैं।

वामदेव ने लम्बे समय तक इस तत्त्व की श्रुति और स्मृति की। क्योंकि प्रतिबन्धक बाकी थे, इसलिए वे माता के गर्भ में भी गये। जैसे ही माता के गर्भ में गये और दूसरा जन्म हुआ वैसे ही प्रतिबन्धक निवृत्त हो गये। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जो एक से अधिक जन्म देनेवाले होते हैं। जैसे ब्रह्म-हत्या करनेवाले को उस ब्रह्म-हत्या के कारण सात भिन्न-भिन्न जन्म मिलते हैं। यदि ब्रह्म-हत्या के पाप ने फल देना शुरू कर दिया, एक दो शरीर उसे मिल गये तो जब तक सात पूरे नहीं हो जायेंगे, तब तक प्रतिबन्धक बना रहेगा। क्योंकि कर्मफल का नियम है कि जिसने फल देना शुरू कर दिया, वह फल देकर ही ख़त्म होगा। जिसने कर्मफल देना शुरू नहीं किया, वह तो ज्ञान की अग्नि से भस्म हो जाता है पर जिन कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया है, वे जब तक अपने कर्म-फल को पूरा नहीं करेंगे तब तक समाप्त नहीं होंगे। यह ठीक है कि प्रायः एक ही जन्म के कर्म प्रारब्ध होते हैं परन्तु कुछ घोर कर्म हैं जिनका फल अनेक जन्मों तक भोगना पड़ता है। ऐसी स्थिति में वह कर्म प्रतिबन्धक बना रहता है। ऐसे जीव का जब उस प्रारब्ध के अनुसार अन्तिम जन्म होगा तब उसको ज्ञान हो जायेगा। अतः किया हुआ श्रवण-मनन बेकार नहीं जाता प्रतिबन्धक के समाप्त होते ही फल दे देता है। वामदेव को एक जन्म और लेना था इसलिए गर्भ में गये और गर्भ में जाते ही स्वयं वेद कहता है कि उनको ज्ञान हो गया। क्योंकि इस मार्ग में क्रमशः गति होती है इसलिए यह पिपीलिका मार्ग है। हैं दोनों ही श्रवण-मनन के मार्ग।

इस मार्ग की जो अधिकारिता प्राप्त करना है, उसके लिए कहते हैं 'निराशिषः'-'जिन लोगों ने अपनी सारी कामनाओं को समाप्त कर दिया है वे ही श्रवणादि में अधिकारी हैं। श्रवण-मनन करने का अधिकार तभी होता है, जब विवेकजन्य वैराग्य की पूर्णता हो। वैराग्य की कमी में श्रवण-मनन की ऐसी दृढता नहीं हो पाती कि केवल तत्त्व ही सर्वप्रधान रह जाए क्योंकि कामना के कारण नाम-रूप बार-बार सामने आता रहता है। इसलिए भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि वैराग्य होने पर ही बोध होता है। अन्यथा चाहे जितना श्रवण मनन कर ले, साक्षात्कार होता नहीं, यानी बोध उत्पन्न नहीं होता। 'निर्ममताधिवासाः'- जैसे सारी कामनाएँ छोडनी हैं, वैसे ही किसी के भी प्रति 'मेरा'- इस भाव को छोड़ना है। यह भी एक बन्धन का कारण है। अपने लिए कोई कामना न होने पर भी जब तक ममता रहती है,

तब तक जो अपने मन का विषय है- मेरा पुत्र, मेरी पत्नी आदि, उनकी कामनाओं को पूर्ण करने की प्रवृत्ति भी रहती है। अपनी कामनाओं के हटने पर भी अगर ममता रहती है तो अपनी कामना न रहने पर भी उनके लिए कामना हो जाती है। यह भी एक बड़ा बन्धन होता है। शुकादि में न कामना है न ममता है अतः वे सर्वोत्तम अधिकारी हैं।

एक महात्मा थे। वे गाँव में घूमते हुए चिल्लाते रहते थे 'कब्र है?कब्र है?' लोग समझते थे कि कोई पागल है, बेकार की बात बोलता है। एक बार एक गाँव में पहुँचे तो कोई समझदार था, उसने कहा- 'हाँ, कब्र तो है, मुर्दा है?' महात्मा समझ गये कि सत्संगी है अतः वहाँ रुक गये। उसने महात्मा को अपने घर के बाहर जिसे राजस्थान में न्यौरा कहते हैं, ठहरा दिया। उन्हें भोजन के समय भोजन मिल जाता था और वस्त्र की अपेक्षा होवे तो वस्त्र दे देता था। परन्तु वह कभी भी उनसे कोई भी बातचीज परमात्मा के सिवाय दूसरी नहीं करता था। उसके ऊपर बड़ी से बड़ी आपत्ति आई लेकिन उसने कभी भी नहीं बतलाया कि उसके ऊपर आपत्ति आई है। एक बार महात्मा ने देखा कि उसका मुँह बड़ा उदास है। उन्होंने पूछा- 'अरे! तुम उदास क्यों हो?' उसने कहा- 'देखिये, मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं आपको कब्र दूँगा। इसलिए मैं आपको कोई चिन्ता की बात नहीं बताऊँगा।' महात्मा ने उसे बहुत दुःखी देखकर कहा 'अच्छा कोई बात नहीं, मैंने ही तुमसे कब्र के लिए कहा था, अब मैं ही बताने के लिए कह रहा हूँ तू बतला दे, कोई दोष नहीं होगा।' तब उसने बताया कि ज़मीनों का झगड़ा हुआ था, उसमें उसके लड़के को खून के इल्ज़ाम में झूठा ही फँसा दिया गया। लेकिन उसने कहा, 'मैंने आपको प्रतिज्ञा की है, इसलिए मैं आपको कुछ करने को नहीं कहता।' महात्मा ने कहा- 'तुमने बतलाया है तो कुछ इन्तजाम हो जायेगा।' महात्मा ने भगवान् से प्रार्थना की और वह लड़का बच गया। वह आदमी बड़ा प्रसन्न था क्योंकि उसे कोई आशा नहीं थी। महात्मा ने उससे कहा कि 'अब हम जायेंगे।' उसने कहा 'महाराज! आप मत जाइये।' महात्मा बोले- 'नहीं तेरी कब्र सच्ची निकली, मेरा मुर्दा झूठा निकला! तुमने बीस साल तक मेरी सेवा की, इससे मेरे मन में तुम्हारे प्रति ममता आ गई, मुर्दा झूठा निकला। इसलिए अब जाऊँगा।' अपनी आशा न रहने पर भी ममता का बन्धन हो जाता है।

'तं दक्षिणामूर्तितनुं महेशम्' दक्षिणामूर्ति रूप धारण करने वाले महेश हैं, जो सर्वव्यापक रहते हुए सारी वस्तुओं का शासन करते हैं। शासन दो प्रकार के होते हैं - एक तो बाहर से शासन करने वाला और एक अन्दर से शासन करने वाला। बाहर के शासक को तो आदमी धोखा दे सकता है परन्तु अन्दर के शासक को धोखा नहीं दे सकता। शिष्य और फौज, दोनों

अनुशासित होते हैं। शिष्य को भी अनुशासित ही होना पड़ता है और फौज को भी अनुशासन में रहना पड़ता है। लेकिन फौज का अनुशासन बाहर से है, नहीं करोगे तो दण्ड पड़ेगा। दण्ड के डर से रहता है अनुशासन। परन्तु, शिष्य का अनुशासन डण्डे के ज़ोर से नहीं है। गुरु ने जो बात कही है, वह उसने समझ ली कि ठीक ही है; ऐसा समझ कर उसके अनुसार जो चलता है, वही शिष्य कहा जाता है। शिष्य का मतलब ही है अनुशासन में रहने वाला। वह अन्तःशासन है। बाहर के शासन को तो आदमी नज़रअन्दाज़ कर सकता है, पर अन्दर के शासक की कभी उपेक्षा नहीं कर सकता है। अन्दर के शासन में यह नहीं हो सकता है कि 'उन्होंने कहा, इसलिए मैं कर रहा हूँ।' उसमें होता है 'यह ठीक है, इसलिए मैं कर रहा हूँ।' भगवान् दक्षिणामूर्ति महेश हैं अर्थात् व्यापक होकर सबके अन्दर रहते हुए, सबका शासन करते हैं। जड और चेतन सबके शासक हैं। जड के अन्दर रहने वालारूप उन्हीं का है। गीता में भगवान् ने यह बड़े विस्तार से बतलाया है। जितने जड पदार्थ हैं, उन जड पदार्थों का जो नियम है, उस नियम के अनुकूल ही जड पदार्थ चलते हैं। मनुष्य जड नहीं, चेतन है। अन्तःकरण की उपाधि के अन्दर जो चिदाभास है, वही जीव का रूप है। इसलिए यहाँ तो बुद्धि का ही शासन होता है। जिसको तुमने विचारपूर्वक ठीक माना है, वही तुम्हारे अन्दर से शासन करता है। उसमें फिर तुम्हें यह नहीं लगता कि 'मैं किसी का शासन मान रहा हूँ।' अपना ही शासन मान रहे हो यह ही लगता है। वह अपना शासन क्या है?बुद्धि का शासन है। जड पदार्थों में महेश के रूप में जड के नियमों के रूप में रहता है, चेतन पदार्थों के अन्दर बुद्धि के नियमों में रहता है। इसलिए बुद्धि के शासन को आदमी किसी दूसरे का शासन नहीं मानता। उसको ठीक मानकर ही प्रवृत्ति होती है। ऐसे जो सर्वव्यापक भाव से शासन करने वाले हैं, दक्षिणामूर्ति शरीर को धारण करने वाले उनकी उपासना हम करते हैं।

'मोहमहार्तिशान्त्यै'- अविवेक, अज्ञान को ही मोह कहा जाता है। इसीलिए जो नाम, रूप को सत्य मानता है, उसी को मुग्ध व्यक्ति कहा जाता है। यानी नाम और रूप के अन्दर ही जो रमण करता है, उसी को अच्छा समझता है, वह मुग्ध है। मोह वाला ही मुग्ध है। सारे दुःखों की जड़, यह अज्ञान रूप मोह ही है। उस अज्ञान की शान्ति अर्थात् निवृत्ति के लिए भगवान् दक्षिणामूर्ति की उपासना करते हैं। इस उपासना के लिए आशा व ममता का त्याग ज़रूरी है। अज्ञान अपने आप में दुःख नहीं देता। गहरी नींद में अज्ञान तो है, लेकिन दुःख नहीं है। दुःख तो अज्ञान का कार्य देता है। यह नाम-रूप ही दुःख देता है। इसलिए सीधा 'मोह शान्ति' न कह कर 'मोहमहार्तिशान्ति' कहा। क्योंकि अज्ञान महान् दुःख देने वाला है इसलिए

उसकी शान्ति के लिए उपासना करते हैं। बिना अज्ञान नष्ट हुए थोड़े समय के लिए चाहे आर्ति हट जाय, पर हमेशा के लिए नहीं हट सकती। चित्तवृत्ति का निरोध योगी लोग करते हैं। जब तक वह समाधि रहती है, तब तक दुःख नहीं होता। समाधि से उत्थान करने पर फिर दुःख मौजूद ही है। इसलिए आर्ति की शान्ति, मोह की शान्ति के बिना नहीं हो सकती। क्योंकि मोह आर्ति को पैदा करता है इसीलिए उसकी शान्ति की तरफ विवेकी की प्रवृत्ति होती है।।१२।।

कान्त्या निन्दितकुन्दकन्दलवपुर्न्यग्रोधमूले वसन्
कारुण्यामृतवारिभिर्मुनिजनं सम्भावयन्वीक्षितैः।

मोहध्वांतविभेदनं विरचयन् बोधेन तत्तादृशा,
देवस्तत्त्वमसीति बोधयतु मां मुद्रावता पाणिना॥१३॥

जिनकी देहकान्ति मानो कुन्दांकुरकी भी निंदा करती है, जो वटमूल में बैठे हुए करुणामृत के जलरूप दृष्टिपात से मुनिजनों को आदर देते हैं, अपूर्व ज्ञान से जो मोहान्धकार का दुर्लभ नाश करते हैं, वे देव चिन्मुद्रायुक्त हाथ द्वारा मुझे 'तत्त्वमसि' समझायें।

भगवान् के शरीर की जो कान्ति है, चमक है, वह कुन्द वृक्ष के सफेद फूलों की तरह है। 'कुन्दकन्दलवपु'- बहुत से कुन्द फूलों का समूह होवे तो भी उनके शरीर की चमक के सामने निन्दित हो जाता है, फूलों की चमक भी फीकी पड़ जाती है इतनी दिव्य भगवान् के शरीर की चमक है। फूल की सफेदी तो भौतिक है। भगवान् दक्षिणामूर्ति की जो चमक है, वह भौतिक चमक नहीं है; क्योंकि पहले ही कहा था कि उनका वपु मायिक है, इसलिए वह भौतिक सफेदी नहीं है। सामान्यतः सफेद रंग सत्त्व गुण का माना जाता है, लाल रजोगुण का और काला तमोगुण का। कुन्द का जो सफेद रंग है, वह तो सत्त्वगुण को बतलाता है। भगवान् दक्षिणामूर्ति की जो कान्ति है, वह सत्त्वातीत को बतलाती है, अर्थात् सत्त्वगुण से परे है। माया एक तो पांचभौतिक रूपों को प्रकट करती है। ये सारे जो हम लोगों को दीखते हैं, ये नाम-रूप ही बन्धन में डालने वाले हैं। भगवान् के लीलाविग्रह के अन्दर जो दिव्य रूप हैं, वे पांचभौतिक नहीं होते, वे छुड़ाने वाले होते हैं। भगवान् की माया ही बन्धन में डालती है और माया ही छुड़ाती भी है। परमेश्वर की शक्ति ही हमें बन्धन में डालती है और छुड़ाती भी है। भगवान् ने इसीलिए गीता में कहा कि 'मेरे जो तुम जन्म-मरण देख रहे हो, वे लौकिक जन्म-मरण नहीं हैं जैसे और लोगों के होते हैं। उनके तो कर्म के अधीन होकर के जन्म आदि होते हैं। परन्तु मेरे ऐसे जन्म नहीं हैं। मैं बिना कर्म की

अधीनता के ही प्रकट होता हूँ।' इसलिए सगुण परमात्मा के मायिकरूप का ध्यान करने से आदमी मोक्ष की तरफ जाता है। इसलिए भगवान् दक्षिणामूर्ति की जो कान्ति है वह दिव्य होने से सत्त्वातीत है।

'न्यग्रोधमूले वसन्' वट वृक्ष के मूल में बैठे हुए हैं। वट वृक्ष का तात्पर्य पहले ही बतला दिया है। 'कारुण्यामृतवारिभिः' उनकी करुणा मानो अमृत का जल है। उनकी करुणा ही मोक्ष देने वाली है। उनकी दया के कारण ही मुक्ति होती है। शास्त्रकारों ने कहा है कि अद्वैत ही श्रुति का तात्पर्य है, यह निःसंदिग्ध है। किन्तु शिव के अनुग्रह से ही इसमें निष्ठा की प्राप्ति होती है। अपने प्रयत्न से वह प्राप्त नहीं हो सकती; क्योंकि वेद ने नियम कर दिया है कि 'नास्त्यकृतःकृतेन'। तुम चाहे जितना कर लो उससे जो अकृत है, उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तुम जितना प्रयत्न करोगे, वह हमेशा सीमा वाला होगा, परिच्छिन्न होगा और परमात्मा की प्राप्ति अपरिच्छिन्न है। इसलिए सीमित के प्रयास के द्वारा असीम की प्राप्ति नहीं हो सकती। असीम की प्राप्ति तो असीम की कृपा से ही होती है। जिस प्रकार से घड़ा यदि सामने रखा हुआ है, तब तो तुमको आँखों से घड़ा दीखेगा। पर तुम कितना भी प्रयत्न घड़ा देखने का कर लो, पर घड़ा वहाँ है नहीं तो कहाँ से दीखेगा?इसी प्रकार से ध्यान आदि के द्वारा चाहे जितनी ब्रह्माकार वृत्ति बना लो, ब्रह्म नहीं मिल सकता। ब्रह्म कृपा करके वहाँ मौजूद है, तभी ब्रह्माकार वृत्ति से उसकी प्राप्ति हो सकती है। वृत्ति बनाना तो तुम्हारा प्रयत्न है परन्तु ब्रह्म का वहाँ होना- यह ब्रह्म का ही अनुग्रह है। करुणा उनका स्वभाव है। रोज़ कहते ही हो 'कर्पूरगौरं करुणावतारम्' भगवान् शंकर करुणा के अवतार हैं। उनकी जो करुणा है, वह कोई संसार के पदार्थ देने के लिए नहीं है। ठीक जिस प्रकार से बच्चा चाकलेट के लिए थोड़ा सा रोता है तो उसको बेवकूफ माता-पिता चाकलेट दे देते हैं। चाकलेट खाकर उसके दाँतों का क्या हाल होगा और आगे जाकर के जन्म भर यह कैसे कष्ट पायेगा, इस बात को नहीं समझते। एक दिन, दो दिन रोयेगा कोई बात नहीं, परन्तु दाँतों में कीड़ा होकर दाँत खराब हो जायेंगे, तो जन्म भर कुछ नहीं खा सकेगा! बेवकूफ इस बात को नहीं समझता। यह कोई करुणा नहीं है। इसी प्रकार हम जो कुछ नाम-रूप जगत् को चाहते हैं वह मिलने से कभी उसकी भूख तो मिटनी नहीं है। एक नाम-रूप की जगह दूसरा नाम-रूप आयेगा। जो परमात्मज्ञान को नहीं जानने वाले देवता हैं, वे तुम्हें नाम-रूप दे देंगे। परन्तु भगवान् दक्षिणामूर्ति जानते हैं कि इन्हें लेकर आर्ति हटने वाली तो है नहीं, दुःख हटेगा नहीं। इसलिए वे करुणा करके अमृत वारि ही देते हैं, मोक्ष द्वार ही देते हैं। उस वारि से मुनिजनों के समूह को देखते हैं। 'वीक्षितैः' उनके जो करुणा का वारि है वह चक्षु से प्रवहित होता है।

'मोहध्वान्तविभेदनम्' क्या-क्या चीजें उससे सम्भावित हो जाती हैं?मोहरूपी जो अन्धकार है, वह नष्ट हो जाता है। 'विभेदनम्' शब्द के द्वारा यह बतलाते हैं कि मोह कोई वस्तु नहीं है जिसे तुमसे अलग किया जाय। मोह अर्थात् अज्ञान। अज्ञान कोई वस्तु नहीं है जो अलग किया जा सके। तुमने ही अज्ञान को पकड़ रखा है और तुमको ही अज्ञान छोड़ना पड़ेगा, भेदन करना पड़ेगा। विवेक अर्थात् जो चीज़ एक दीखती है उसे काटकर दो हिस्सों में करो। जैसा पंचदशी में बतलाया है- चिदाभास और साक्षी दोनों एक दीख रहे हैं, इनका विभेदन करना है, चिदाभास को अलग कर देना है। अलग होकर कहीं जायेगा नहीं, किन्तु सिवाय साक्षी के चिदाभास रहेगा नहीं। अर्थात् जैसे ही साक्षी से विभेदन करते हैं, वैसे ही चिदाभास का पता ही नहीं रहता। इसलिए अज्ञानान्धकार को दूर करके कहीं दूसरी जगह अज्ञानान्धकार रह जाता है ऐसा कुछ नहीं। 'बोधेन'- मैं साक्षी हूँ, इस बोध से ही यह विभेदन होता है। विभेदन के लिए कुछ और नहीं करना है। अपने वास्तविक स्वरूप को जानने से मोह वाली चीज अपने आप नष्ट हो जाती है। नष्ट होकर कहीं जाती नहीं है। यह बोध किससे होता है?'मां तत्त्वमसीति बोधयतु'- जो देव हैं, वे मुझे तत्त्वमसि का बोध दें। अर्थात् तत्त्वमसि का जो वाच्यार्थ है, वह मेरी बुद्धि में प्रकट हो जाय। पहले भी तीसरे श्लोक में तत्त्वमसि को बतलाया था। दक्षिणामूर्ति तो उपदेश देते नहीं मुख से। इसलिए कहा- 'मुद्रावता पाणिना' चिन्मुद्रा का उनका जो हाथ है, वह ही जीव-ब्रह्म की एकता और स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर का त्याग बताता है। तत्-पदार्थ की त्रिविधि उपाधियों को अर्थात् समष्टि स्थूल-सूक्ष्म-कारण को हटाकर एवं त्वम्-पदार्थ की व्यष्टि उक्त त्रिविध उपाधियों को हटाकर अखण्ड तत्त्व का अभेद समझना है।।१३।।

अगौरगात्रैरललाटनेत्रैरशान्तवेषैरभुजङ्गभूषैः।
अबोधमुद्रैरनपास्तनिद्रैरपूर्णकामैरमरैरलं नः॥१४॥

जिनका शरीर गोरा नहीं, जिनके ललाटपर नेत्र नहीं, जिनका वेष शांत नहीं, सर्प जिनके भूषण नहीं, जिनके हाथ में चिन्मुद्रा नहीं, जिन्होने नींद छोड़ी नहीं, जिनकी कामनाएँ पूरी नहीं हुईं, ऐसे देवतादि से हमें कोई प्रयोजन नहीं।

गौर रंग 'सत्त्वगुण' का प्रतीक है, सत्त्वगुण वाले जो देवता नहीं हैं, अर्थात् रजोगुण, तमोगुण वाले देवता हैं उनसे मुझे कोई मतलब नहीं। 'अललाटनेत्रैः' जिनके ललाट में नेत्र नहीं है उनसे भी मतलब नहीं। भगवान् शंकर के ललाट में नेत्र है। दो चक्षुओं से जो दीखता है वह भौतिक रूप है और बुद्धि के नेत्र से जो दीखता है वह अभौतिक रूप है। जिनके बुद्धि का

नेत्र नहीं खुला हुआ है, ऐसे देवताओं से हमको कोई मतलब नहीं। 'अशान्तवे'- दक्षिणामूर्ति तो सर्वथा शान्त बैठे हुए हैं। दूसरे देवताओं का क्रियाशील वेष है, इसलिए वे शान्तवेष नहीं हैं। 'अभुजङ्गभूषैः'- सर्प जिनके भूषण नहीं हैं ऐसे देवता भी हमारे लिए बेकार हैं। सर्प को हमारे यहाँ मन माना गया है क्योंकि जैसे मन चंचल होता है, वैसे सर्प चंचल होता है। जिन्होंने अपने मन को कसकर अपने स्वरूप में बाँध नहीं लिया है, अर्थात् जिनका मन केवल आत्मा के अन्दर ही रमण नहीं करने लग गया है, जिनके अन्दर अभी नाम-रूप का रमण करना बाकी रह गया है, ऐसे देवताओं से हमें कोई मतलब नहीं। 'अबोधमुद्रैः' जो अपनी चिन्मुद्रा से निरन्तर ज्ञान का ही प्रवाह करते हैं, उन भगवान् दक्षिणामूर्ति को छोड़कर और किसी की चिन्मुद्रा नहीं है अतः ऐसों से भी हमें कोई प्रयोजन नहीं। 'अनपास्तनिद्रैः'- जिन्होंने इस संसार स्वप्न को दिखाने वाली निद्रा को हटा नहीं दिया है वे भी हमारे लिए व्यर्थ हैं। जिस प्रकार से स्वप्न तभी तक देखा जाता है, जब तक निद्रा रहती है इसी प्रकार से जब तक अज्ञान की निद्रा रहती है, तभी तक नाम-रूप की प्रतीति है। अज्ञान के अतिरिक्त और कोई कारण इस नाम-रूप की प्रतीति का नहीं है। ऐसा नहीं है कि मोक्ष होने पर यह सब नाम-रूप रहे और हमको नहीं दीखे। जैसे यह नहीं है कि स्वप्न की चीज़ें तो वहीं रहें और हम जाग्रत् में आ जायें। जब हम उठ जाते हैं तब स्वप्न की कोई चीज नहीं है क्योंकि स्वप्न की चीजें सिवाय हमारी कल्पना के और तो कुछ थी नहीं। जैसे अन्धेरा रहता है तब तक ही सर्प दीखता है, जैसे ही रोशनी हुई वैसे ही रस्सी दीखने लग जाती है। इसी प्रकार जो संसार के नाम-रूप को अर्थात् विषयों को देने वाले देवता हैं, वे सारे अभी निद्रा से रहित नहीं हुए। उनसे हमको क्या मतलब। 'अपूर्णकामैः'- जब तक नाम-रूप की प्रतीति सत्य रूप से होती है तब तक कभी कामनाएँ पूर्ण होती नहीं। इसलिए जो देवता निद्रारहित नहीं हैं, वे कामनाओं से भरे हुए हैं। उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो गई हों, ऐसा नहीं है। इसलिए भगवान् शंकर का वर्णन करते हुए पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं कि भगवान् शंकर संसार के लोगों को, देवताओं को जो-जो चाहिए वह सब दे देते हैं, पर अपने पास कुछ नहीं रखते। क्योंकि जिसको खुद कुछ चाहिए वह उस चीज़ को दूसरे को कैसे खुलकर दे सकता है! जिसे खुद के लिए कुछ चाहिए वह उन्मुक्तता से दे नहीं सकता, क्योंकि शिव पूर्ण काम हैं इसीलिए विषयमृगतृष्णा उन्हें भ्रम में नहीं डालती, वे मुक्तहस्त देते हैं। अन्य जितने देवता हैं, वे तो सब कुछ-न-कुछ अपनी कामना की चीजों को रखकर ही देते हैं। चूँकि भगवान् शंकर पूर्णकाम हैं, इसलिए वे देवताओं को, असुरों को, सभी को जो-जो

चाहिए वह दे देते हैं। 'अपूर्णकामैः'- शेष सब अपूर्ण कामना वाले देवता हैं। केवल एकमात्र भगवान् शंकर ही पूर्ण कामना वाले हैं। ऐसे 'अमरैः अलं नः' अपूर्णकाम देवताओं से हमें अब कोई प्रयोजन नहीं ।।१४।।

दैवतानि कति सन्ति चावनौ, नैव तानि मनसो मतानि मे।
दीक्षितं जडधियामनुग्रहे, दक्षिणाभिमुखमेव दैवतम्।।१५।।

धरती पर कितने ही देवता हैं पर मन से मैं उन्हें कुछ नहीं मानता। जडमति जनों पर कृपा करने के व्रत वाले जो दक्षिण दिशा की ओर मुँह किये महादेव हैं उन्हीं एक देवता को मैं सर्वस्व मानता हूँ।

पृथ्वी में कितने देवता हैं?प्राचीन हिसाब से तैंतीस करोड़ देवता हैं। अर्थात् असंख्य देवता हैं। 'मे मनसः तानि नैव मतानि' लेकिन मेरे मन में किसी के विषय में इच्छा नहीं होती कि उनकी उपासना करें। क्यों नहीं होती?क्योंकि बाकी सब देवता हमारी बुद्धि की जडता को ही मजबूत करते हैं, जडता दूर नहीं करते। बुद्धि की जडता क्या है?जड चीज़ों को पकड़ने का प्रयत्न करना, यही बुद्धि की जडता है। अनादि काल से लगे रहने पर भी आज तक किसी जड पदार्थ का बुद्धि इत्थं भावेन निर्णय नहीं कर पा रही है। 'यह चीज ऐसी ही है' ऐसा किसी जड पदार्थ के बारे में नहीं कह सकते। जड पदार्थ मायिक होने के कारण इनके बारे में निश्चय हो ही नहीं सकता। परन्तु फिर भी इन्हीं के विषय में लगे हुए हैं। जड की तरफ जानेवाली होने से बुद्धि जड है। हम तो नाम-रूप को ही पकड़ते हैं। इसलिए हमारे ऊपर कृपा करके भगवान् दक्षिणामूर्ति ने नियम किया है कि वे केवल जडता दूर करेंगे। जैसा नाम-रूप हमें दीख सकता है वैसा ही दिव्य विग्रह धारण करके वे उपस्थित हुए ताकि हम उधर प्रवृत्ति कर सकें। हमारे ऊपर अनुग्रह करके उन्होंने यह रूप धारण किया। जो अपनी बुद्धि से तत्त्व को समझ लेते हैं, उनको तो तत्त्वज्ञान हो जाता है। पर जो हम जैसे नहीं समझ पाते, उनको भी समझ कैसे होवे, इसके लिए ऐसे दिव्य विग्रह को उन्होंने धारण किया। मानो, उन्होंने यह व्रत धारण कर लिया है कि हम सबको मुक्त करना ही है।

ऐसे जो भगवान् दक्षिणामूर्ति 'दक्षिणाभिमुखमेव दैवतम्' दक्षिण दिशा की तरफ मुख किये देवता है उन्हीं के बारे में मेरा मत है, उसी को लेना चाहता हूँ, शेष अन्य देवताओं से क्या मतलब! देवता हैं, रहा करें, हमारे मतलब के नहीं हैं क्योंकि हमें सिवाय मोह की शान्ति के और कोई अन्य चीज़ अपेक्षित नहीं है। चूँकि देवता बाकी सारी कामनाओं को पूर्ण करते हुए भी संसार दुःख को हटा नहीं सकते अतः संसार दुःख को हटाने की इच्छा वाला उनकी तरफ क्यों जायेगा? ।।१५।।

मुदिताय मुग्धशशिनावतंसिने भसितावलेपरमणीयमूर्तये।
जगदिन्द्रजालरचनापटीयसे महसे नमोऽस्तु वटमूलवासिने॥१६॥

प्रसन्न, भक्तिवशीकृत चन्द्र से भूषित सिर वाले, भस्मांगराग से सुन्दर देह वाले, जगत् रूप इन्द्रजाल की रचना में अतिकुशल, वटमूलवासी दिव्य तेज को प्रणाम है।

'मुदिताय' किसी वस्तु को देखकर जो प्रसन्नता होती है उसको मोद कहते हैं। जब तक संसार के पदार्थों में सत्य दृष्टि रहती है, तब तक तो उन पदार्थों के पाने की, इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने की इच्छा होती है। जैसे रसगुल्ला होवे तो जीभ पर आये, पुष्प होवे तो नासिका से सम्बन्ध वाला हो, गाना होवे तो कान से सम्बन्धवाला हो। परन्तु, चलचित्र में जाते हो तो फूल को भी देखते हो, रसगुल्ले को भी देखते हो पर 'मैं इसको सूंघूँ या इसको चखूँ' यह इच्छा नहीं होती क्योंकि जानते हो कि ये वस्तुतः हैं नहीं। 'ये नहीं हैं' ऐसा तो नहीं कह सकते हो, क्योंकि सामने दीख रहे हैं परन्तु सचमुच में वे नहीं हैं। इसी प्रकार से साक्षिभाव से जब तुम चीजों को देखते हो तब तुम्हें पता है कि ये जगत् के पदार्थ इन्द्रिय और मन से विषय होने पर भी वस्तुतः हैं नहीं और चूँकि ये वास्तविक हैं नहीं इसीलिए इनसे सच्चा सुख-दुःख भी नहीं हो सकता। सच्चा सुख-दुःख देने के लिए सच्चे पदार्थ की ज़रूरत पड़ती है। ये पदार्थ सच्चा सुख-दुःख नहीं दे सकते हैं। साक्षी भाव वाला हमेशा इस नामरूपात्मक प्रपंच को साक्षी- भाव मात्र से देखता है और जब साक्षिभाव से किसी चीज़ को देखते हो तो मोद ही होता है। नाटक में जाते हो, चलचित्र में जाते हो, कोई त्रासदी भी होती है तो उन सबको देख कर तुम्हें सचमुच में दुःख नहीं होता और उल्टा, 'यह खेल, यह नाटक, यह चलचित्र, यह रंगमंच बड़ा अच्छा था' यही भावना रहती है। इसी प्रकार संसार के नाम-रूपों में बहुत बार त्रासदी भी दीखती है, उन्हें जब तक सच्चा समझते हैं तब तक को हमारा हृदय दुःख से भर जाता है, सच्चा दुःख लगता है। परन्तु साक्षिभाव से जब देखते हैं तब दुःख दीखता है, त्रासदी दीखती है, परन्तु उनसे हार्दिक दुःख नहीं होता क्योंकि पता है कि ये वास्तविक नहीं हैं। नित्य साक्षिभाव में स्थित रहने के कारण इस नाम-रूपात्मक प्रपंच को देखकर निरन्तर भगवान् का मोद बना रहता है।

उनके सिर पर भूषण क्या है?'मुग्धशशिनाऽवतंसिने' मुग्ध जो शशी है, चन्द्रमा है जिस पर मोह का कलंक है वह उनका भूषण है। अज्ञान रूपी खरगोश ही हमारे अन्दर उस परमात्मतत्त्व को ढाँक रहा है। इस सारे नाम-रूपात्मक प्रपंच को वह अज्ञान ही दिखा रहा है। इसलिए अज्ञान मानो सिर के ऊपर है, शिरोभूषण है।

हमारी अनन्तता को प्रकट करने वाला यह अज्ञान ही है, घड़े, कपड़े इत्यादि में हैपना प्रतीत करा रहा है। अन्यथा, 'है' कभी व्यक्त नहीं हो सकता है। व्यक्त होने का अर्थ है, सामने आ जाना। जो हमारा स्वरूप है वह सचमुच में सामने कभी आ नहीं सकता। ठीक जिस प्रकार से मुँह हमारा स्वरूप है तो सचमुच ही वह हमारे सामने आ नहीं सकता। परन्तु काँच के अन्दर झूठ-मूठ में हमारा मुँह दीखता है। हमारे मुँह की सुन्दरता हमारे मुँह पर रहेगी, काँच में वह सुन्दरता सचमुच में नहीं आयेगी। परन्तु, काँच में देखकर वह सुन्दरता प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार से जो हमारा स्वरूप है, वह सत्य है। इसलिए, वह आत्मा का ही सत्यरूप रहेगा। परन्तु अज्ञान के कार्य अन्तःकरण के अन्दर घट पटादि की सत्यता प्रतीत हो जायेगी। घट-पट आदि में सत्य भाव दीखता है, 'घड़ा है'- ऐसा दीखता है। सचमुच में घड़ा है नहीं, केवल है दीखता है। हमारा ही है घड़े में दीखता है। हमारा 'है पना' दृश्यों में प्रतीत हो जाता है। काँच में मुँह दीखता है तो, कुछ परिवर्तन हो ही जाता है। हम पूर्व की तरफ मुँह कर खड़े हों तो काँच में मुँह पश्चिम की तरफ खड़ा हो जायेगा। इसी प्रकार से हमारा सत्‌रूप तो अपरिच्छिन्न है। देश, काल, वस्तु के किसी प्रकार के अवच्छेद से, परिच्छिन्नता से रहित है। परन्तु घड़े में जो 'हैपना' दीखता है, वह देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से ही दीखता है। फिर भी, 'है पना' दीख तो गया है! इसी प्रकार से अन्त वाले संसार के अन्दर अनन्तता दीखती है। अगर नक्षत्र, तारों की तरफ जायें तो कितने नक्षत्र तारे हैं? अनन्त के सिवाय कुछ नहीं कह सकते। उन नक्षत्रों का न परिमाण हमें पता लग सकता है और न वे कहाँ तक हैं, यह पता लग सकता है। और यदि हम एक छोटी-सी चीज को ले लें; राई को ले लें। राई के दाने में कितने कोशा हैं कितने सैल्स हैं, वह भी गिनती से परे है। उनमें से प्रत्येक कोशा के अन्दर अन्य भी अंग हैं। उनमें न जाने कितने अणु होंगे, परमाणु होंगे। अगर हम छोटे को देखने जायें तो वहाँ भी अनन्त ही दीखता है। न हम छोटी चीजों का अन्त देख सकते हैं और न बड़ी चीजों का अन्त देख सकते हैं। यह तो केवल हमें नाम-रूप की अनन्तता दीख रही है। जैसे वस्तुगत अनन्तता बतलाई वैसे कालगत अनन्तता है। यह संसार आज से साल भर पहले कुछ और था, उससे साल भर पहले कुछ और था। जितना पहले से पहले चले जाओ, उतना अलग-अलग था। इसलिए इसमें कालगत अनन्तता भी है, देशगत अनन्तता भी है। यह जो अनन्तता हमें दीख रही है, यह संसार की नहीं है। यह तो आत्मा की अनन्तता है। परन्तु अज्ञान और अज्ञान का कार्य जो बुद्धि है उसी में प्रतीत होती है। यह अनन्तता वास्तविक नहीं है क्योंकि परिच्छिन्नों की अनन्तता परिच्छेद वाली है। इसलिए यह वास्तविक अनन्तता नहीं है, परन्तु हमारी अनन्तता का प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार यह अज्ञान हमारे ही सच्चिदानन्द अनन्त रूप को प्रकट करने वाला है। इसलिए कहा कि यह जो मुग्ध शशी है यानी अज्ञान, यह मानो शिरोभूषण है, प्रकट करने वाला है।

'भसितावलेपरमणीयमूर्तये'- भस्म का ही अवलेप है। जब कोई वस्तु सर्वथा नष्ट हो जाती है, तब कहते हैं, यह भस्म हो गई। वेदान्त में भी अध्यास का समापन होने पर केवल एक अधिष्ठान ही अवशेष रह जाता है। अधिष्ठान ही भस्म रूप है। उसको अवलेपन करना इसलिए कहते हैं कि जब तक अध्यास का संस्कार है, तभी तक उसको अधिष्ठान कह सकते हैं, अन्यथा वह अधिष्ठान भी नहीं है। जैसे शरीर पर सीधे ही भस्म लगाते हैं, वैसे ही मानो, ब्रह्म के ऊपर अधिष्ठान अन्तिम शेष बच गया है। परन्तु जब अधिष्ठानमात्र रह जाता है, तब 'रमणीयमूर्तये' ब्रह्म नित्य आनन्द को प्रकट करता है इसलिए मन को रमण करने वाली मूर्ति हो जाता है। प्रारब्ध भोग काल में स्वरूप से नष्ट होकर भी अभी मन की स्थिति है। इसलिए अपने ब्रह्माकार स्वरूप का जब वह चिन्तन करता है, तब उस मन के अन्दर विलक्षण आनन्द आता है। इसलिए उसको रमणीयमूर्ति मन में रम जाने वाली मूर्ति कहा।

'जगदिन्द्रजालरचनापटीयसे'- जगत् का मतलब होता है जो चलने वाला है। संसार में सभी वस्तुएँ निरन्तर चल रही हैं। गति ही संसार का रूप है। इसमें एकमात्र शिव ही ऐसे हैं, जिनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। बाकी सब वस्तुएँ बदलती रहती हैं। दुःख का जो सबसे बड़ा कारण है वह है शिव की नित्यता! हम उसे अध्यस्त नामरूपों में देखना चाहते हैं। क्योंकि हम शिवरूप हैं इसलिए हम अपनी नित्यता को इस जगत् में देखना चाहते हैं और जगत् में कभी भी कोई वस्तु नित्य मिलती नहीं। यह ही हमारे दुःख का मूल कारण है। यह जगत् इन्द्रजाल है। जैसे बाजीगर खेल दिखलाता है- जब तक खेल दिखलाता है, तब तक तो सब चीजें सच लगती हैं और जैसे ही खेल ख़त्म हुआ वैसे ही वहाँ कुछ नहीं रहता। बाजीगर के खेल को संस्कृत में इन्द्रजाल कहते हैं। इन्द्र का अर्थ उपनिषदों में 'इदं द्रावयति' बतलाया है कि जो इस सारे संसार को अपने में से बाहर प्रकट कर देता है, वही इन्द्र है। परमेश्वर को ही वेदों में इन्द्र कहा है, वही अपनी शक्ति से इस सारे संसार को प्रकट करता है। इसलिए यह सारा जगत् इन्द्रजाल है, परमेश्वर का बनाया हुआ जाल है। कुछ लोग समझते हैं यह प्रकृति या माया खेल कर देती है। माया तो जड है और स्वरूप से कुछ नहीं है। इसलिए माया कुछ नहीं कर सकती। जैसे तुम्हारी चलने की शक्ति है। जब तक तुम प्रयोग न करो, तब तक एक मिलीमीटर भी पैर को नहीं चला सकती है। चलने की शक्ति से ही तुम चल सकते हो परन्तु, तुम्हारे बिना चलने की शक्ति कुछ भी नहीं कर सकती। इसलिए यह हो नहीं सकता कि प्रकृति संसार को बनाती है क्योंकि प्रकृति तो जड है। इसलिए प्रकृति को परमेश्वर ही चलाता है। तुम कितनी अच्छी तरह से चलोगे, यह तुम्हारे ऊपर निर्भर करता है। चलने की शक्ति तो तुम्हारे पैर में है पर कितने सुन्दर ढंग से चलो, कितने फूहड़ ढंग से चलो यह तुम्हारे हाथ में है। 'तुम्हारे' अर्थात् जीव के 'अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन' के। अन्तःकरण के संस्कारों से चलोगे, लेकिन चलने वाले तुम ही हो। यह जो इन्द्रजाल की रचना है इसको बनाने वाला

जो इन्द्र है, परमेश्वर है वह इसका प्रयोग अपनी चतुरता से करता है। 'पटीयसे' इसकी रचना में वह चतुर है। बनाता तो सब कुछ वह माया से ही है, परन्तु चेतन वही है। अतः चतुरता उसी की कही जायेगी। जैसे कोई नाचने वाले की प्रशंसा करता है, यह नहीं कहता है कि 'इसके पैर बड़े अच्छे हैं जो अच्छी तरह से उठ रहे हैं।' गाने वाले की प्रशंसा करता है, यह कोई नहीं कहता है कि 'इसकी जीभ, दाँत बड़े अच्छे हिल रहे हैं।' माया से अवच्छिन्न चेतन प्रकृति का संचालक है। जगत्रूपी इन्द्रजाल की रचना में जो अत्यन्त चतुर है वह स्वरूप से कैसा है?'वटमूलवासिने' वट वृक्ष के नीचे बैठता है। 'महसे' तेज ही उसका वास्तविक स्वरूप है। ऐसे दक्षिणामूर्ति को 'नमोस्तु', नमन होवे।।१६।।

व्यालम्बिनीभिः परितो जटाभिः, कलावशेषेण कलाधरेण।
पश्यल्ललाटेन मुखेन्दुना च प्रकाशसे चेतसि निर्मलानाम्।।१७।।

चारों ओर लटकती जटाओं सहित, कलामात्र चन्द्र सहित, चक्षु-युक्त ललाट सहित व मुख कमल सहित आप मलरहित साधकों के चित्त में प्रकाशित होते हैं।

जटा, दीर्घ तपों को बतलाती है। तप का रूप क्या है?भगवान् वेद व्यास कहते हैं – मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही तप कही जाती है यद्यपि तप शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हो जाता है, तथापि परम्परा से सब तप मन-इन्द्रियों की परमात्मा में एकाग्रता करते ही समाप्त होते हैं। एकाग्रता शब्द में 'एक' नाम परमात्मा का है। छान्दोग्य में कहा है – 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। एक अद्वितीय ये सब परमात्मा [illegible] हैं। इसलिए परमात्मा एक को अग्र अर्थात् आगे रखें तब तो एकाग्रता है। लोक में, नाम-रूपों के अन्दर यदि मन को लगाते हैं, तो उसको भी एकाग्रता कह देते हैं। वहाँ वह केवल लाक्षणिक है। 'पढ़ने में मन लगाओ' ऐसा कहते हैं। यदि कोई 'पढ़ने' का पहला अक्षर ले लेवे और उसमें ही सारा मन लगा देवे, तो क्या मान लोगे कि एकाग्र हो गया! पढ़ना तो बहुत चीजों को है। विषय भी अनेक, उन विषयों के अन्दर भी कितने विस्तार। परन्तु, उन सारे विषयों के भेदों को तुमने नज़रअन्दाज़ कर दिया। विषय के अन्दर भी कितने भेद हैं; इतिहास पढ़ रहे हो, तो उसमें कभी शेरशाह सूरी पढ़ रहे हो, कभी औरंगजेब पढ़ रहे हो। फिर इतिहास अलग पढ़ो, भूगोल अलग पढ़ो, गणित अलग पढ़ो; इन सब भेदों को भुलाकर पढ़ाई को 'एक' कह रहे हो। यहाँ वस्तुतः एक नहीं है लेकिन खेलना, खाना इत्यादि सबकी अपेक्षा से पढ़ने को एक कहते हैं। परमात्मा की जो एकता है, वह तो लाक्षणिक नहीं, वास्तविक एकता है। उसमें कभी किसी प्रकार का भेद नहीं है। इसलिए श्रुति ने कहा 'एकमेवाद्वितीयम्'- द्वितीय कोई है नहीं। इसी प्रकार से भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं- दूसरी चीज थोड़ी भी कहीं हो जाय तो ब्रह्म, ब्रह्म नहीं रह जायेगा! उससे भिन्न कहीं कुछ हो ही नहीं सकता।

परमात्मा के अन्दर जो चित्त की एकाग्रता-रूप, इन्द्रियों की एकाग्रता-रूप तप है, वह कई प्रकार से है। बृहदारण्यक में भी कई प्रकार से बतलाया है। तैत्तिरीय में भी बतलाया। कहीं पंच कोशों से बतलाया, कहीं तीन शरीरों से बतलाया। लेकिन सब तरह से बता तो एक परमात्मा को ही रहे हैं। फिर उन भिन्न-भिन्न प्रकारों को और स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रक्रियाओं की रचना हुई। लेकिन, सारी प्रक्रियाओं के द्वारा बतलाया तो एक तत्त्व ही जा रहा है। इसलिए कोई एक जटा न कह कर 'जटाभिः' कहा। इनमें से जितने भी जटाओं का अवलम्बन करो, हर हालत में अन्ततोगत्वा उस परमात्मा में ही चित्त की एकाग्रता होगी। इसलिए कहा चारों तरफ जटाएँ है। जटा जो उनकी चारों तरफ होंगी वे उन्हीं के शरीर को ढँकेगी। इसी प्रकार से ये सभी प्रक्रियाएँ, सभी अलग-अलग प्रस्थानभेद उस परमात्मा को ही प्रकट कर रहे हैं।

कलाधर कहते हैं चन्द्रमा को, क्योंकि वह कलाओं को धारण करता है। अमावस्या से पूर्णिमा तक कलाओं को बढ़ाता जाता है। पूर्णिमा से अमावस्या तक कलाओं को कम करता जाता है। इन कलाओं को धारण करने वाला तो वह ही है। उनके सिर के ऊपर द्वितीया का चन्द्रमा है जिसमें बस एक कला ही अवशिष्ट रह गई है। 'पश्यल्ललाटेन'- ललाट में उनके आँख है, उससे वे देखते हैं। दो आँखें जो देखती हैं वह ऐन्द्रिय संसार है यानी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने वाला संसार है। परन्तु ललाट के द्वारा, बुद्धि के द्वारा जो देखा जाता है, वह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला संसार नहीं है। परमात्मतत्त्व, जिसको वे प्रकट करने के लिए अवतरित होते हैं, वह 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'- इन्द्रियों से अतीत है, केवल बुद्धि से ही ग्रहण किया जाता है। इसलिए जो बहुत-से लोग समझते हैं कि 'परमेश्वर को हम इन्द्रियों से ग्रहण करें' तो वह सम्भव नहीं क्योंकि भगवान् ने खुद ही कह दिया- 'अतीन्द्रियम्' इन्द्रियों से अतीत है। इन्द्रियों से उसको नहीं देखा जा सकता है। अन्य वस्तुओं को चाहे देख लो, तुम्हारा जो विचार है, वह भी इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता है। इन्द्रियों के द्वारा तुमने अपने को कल शाम रेल में देखा। इन्द्रियों के द्वारा तुम आज अपने को आबू में देख रहे हो। पर यह जो परिवर्तन है इसे इन्द्रियों के द्वारा देख रहे हो या बुद्धिके द्वारा देख रहे हो?यदि इन्द्रियों के द्वारा परिवर्तन देखा जाता तो तुम्हें देख कर किसी को भी पता लग जाता कि कल शाम को तुम रेल में थे, पर आज तुम्हें देखकर किसी को भी पता नहीं लग सकता है। तुम बुद्धि के द्वारा ग्रहण कर रहे हो कि तुम कल कहाँ थे। 'कल वहाँ था'- इस बात को इन्द्रियों से तो ग्रहण नहीं कर सकते। कल तो तुमने इस बात को इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया, लेकिन इस समय नहीं ग्रहण कर सकते। इस समय तो उसको संस्कार या स्मृति ही कहोगे। अब संस्कार या स्मृति इन्द्रियों से तो ग्रहण होती नहीं। इसलिए 'बुद्धिग्राह्यं'। भगवान् शंकर के ललाट में जो नेत्र है वह

इसी बात को बतलाता है कि वे केवल इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य वस्तुओं को नहीं जानते, बुद्धि से जिन वस्तुओं को ग्रहण किया जा सकता है उनको भी जानते हैं। 'मुखेन्दुना च'- उनका मुख चन्द्रमा है। अत्यन्त सुन्दर होने से मुख को चन्द्रमा कह दिया। ऐसा जो आपका रूप है वह - चित्त में ही प्रकाशित होता है।

परन्तु किनके?'निर्मलानाम् चेतसि'- जो निर्मल चित्त वाले हैं, उन्हीं को यह प्रकाशित होता है। मल, पाप को कहते हैं। तीन प्रकार के बन्धन शास्त्रों में बतलाये हैं- मल, विक्षेप और आवरण। हमारे जो किये हुए पाप हैं वे तो मलरूप हैं। जो इन्द्रियों से, मन से हम ग्रहण करते रहते हैं, वे विक्षेप हैं और अनादि अज्ञान आवरणरूप है। जब तक पाप अत्यन्त कम नहीं हो जाते तब तक परमेश्वर कभी प्रकाशित नहीं होता। ठीक जिस प्रकार से गणित शास्त्र के किसी सूत्र को समझने के लिए तुमको पहले गणितेतर के संस्कारों को हटाना पड़ता है। संसार में कोई दो चीजें सर्वथा एक जैसी नहीं होतीं, हर चीजों में भेद रहता ही है। अगर विचार करके देखो तो बिल्कुल एक जैसी दो कलमें तुम ले लो, तो भी एक दाहिने है एक बाँये है। एक, दो मिनट पहले बनी है और दूसरी दो मिनट बाद में बनी है। इसलिए सर्वथा एक जैसी कोई दो चीजें संसार में होती ही नहीं हैं। गणित शास्त्र का नियम है- एक जैसी दो चीजों को जोड़ सकते हो। इसलिए रुपये को पैसे में नहीं जोड़ सकते हैं। रुपयों को रुपयों में ही जोड़ना पड़ता है और पैसों को पैसों में ही जोड़ना पड़ता है। एक रुपया और एक पैसा जोड़कर दो नहीं हो सकते। न वे दो पैसे होते हैं और न दो रुपये होते हैं। दो वस्तुएँ बिल्कुल एक जैसी हो सकें, यह असम्भव है- इस संस्कार को हटा कर तब तुम गणित में एक से सौ तक जोड़ते हो। एक जैसी दो वस्तुएँ मिलनी मुश्किल हैं, सौ कहाँ से मिलेंगी। एक केला छह इंच का है, एक तीन इंच का, एक पाँच इंच का, एक हरे रंग का, एक पीले रंग का; तुम कहते हो एक दर्जन केले हैं! दो ही नहीं हो रहे हैं, बारह कहाँ से होंगे! इस व्यावहारिक भेद को हटा दो, तब गणित शास्त्र को समझ पाओगे। ठीक इसी प्रकार से हमारे अन्दर यह दृढ बैठा हुआ है कि जो इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है, वह सच्चा होता है। जब तक यह संस्कार हट कर, यह संस्कार न बने कि जो इन्द्रियों से देखा जाता है वह सच्चा नहीं होता, तब तक आगे की बात समझ में नहीं आ सकती। आचार्य मधुसूदन लिखते हैं कि अद्वैत की सिद्धि द्वैत के मिथ्यात्व की सिद्धि के बाद ही समझ में आ सकती है। जब तक द्वैत-मित्थ्यात्व सिद्ध नहीं हो जाता है, तब तक अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती। जब तक पाप के संस्कार मन के अन्दर भरे हुए हैं, मल है, तब तक इस संसार के मित्थ्यात्व की दृष्टि बन ही नहीं पाती। जितनी भी युक्तियों से बतला दो, सब युक्तियाँ तुमको जँचेगी लेकिन तुम्हें मन अन्दर ही अन्दर कहेगा 'फिर भी, यह संसार है तो सही!' अतः तब तक भगवान् दक्षिणामूर्ति प्रकट नहीं होते।।१७।।

उपासकानां त्वमुमासहायः, पूर्णेन्दुभावं प्रकटीकरोषि।
यदद्य ते दर्शनमात्रतो मे, द्रवत्यहो मानसचन्द्रकान्तः॥१८॥

उमानाथ आप उपासकों के हित के लिए पूर्णिमा का चाँद प्रकट करते हैं क्योंकि आज आपके केवल दर्शन से मेरा मनरूप चन्द्रकान्त पिघल रहा है, यह एक आश्चर्य है।

इतनी प्रार्थना करने पर भगवान् दक्षिणामूर्ति ने दर्शन दिया। इसलिए कहते हैं 'अद्य ते दर्शनमात्रतः मे मानसचन्द्रकान्तः द्रवति'। 'अद्य'- मायने अब, आपके दर्शन मात्र से अर्थात् आपने हमें कोई आशीर्वाद दिया हो ऐसा कुछ नहीं है, दर्शनमात्र से ही मन जो चन्द्रकान्त मणि की तरह है वह द्रवित हो गया। चन्द्रकान्त मणि को चन्द्रमा के सामने करते ही उसमें पानी निकलने लगता है। न चन्द्रमा कुछ करता है, न चन्द्रकान्त मणि कुछ करता है। परन्तु चन्द्रकान्त मणि उसके सामने आ गया तो द्रवण करता ही है। इसी प्रकार से जब परमेश्वराभिमुखी बुद्धिवृत्ति बनती है, ब्रह्माकार वृत्ति बनती है, तब प्रेम का पूर्ण प्रादुर्भाव होता ही है। क्योंकि शिव ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। मन का पिघलना तभी होता है, जब उसके अन्दर प्रेम का अतिशय होता है। ब्रह्माकार वृत्ति बने और ब्रह्म का आनन्द प्रकट न होवे, यह कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वह आनन्दघन है, आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार से आपके दर्शनमात्र से मेरा मन आपके प्रेम से पूर्ण हो गया, आपके आनन्द से भर गया। यह आपने ही अपने को प्रकट किया है।

'उमासहायः'। इसके लिए सहारा किसका लेना पड़ता है? उमा ही परमेश्वर की सहाय है। उमा शब्द को यदि ध्यान से देखोगे तो उसमें 'उ' 'म' और 'अ' ये तीन अक्षर क्रम से आते हैं। 'उ' 'म' और 'अ' से ही ॐ बना है। उमा यह ॐ का ही अप्रकट रूप है। प्रकट में तो ओम् है। कई लोगों को शास्त्र के अनुसार ॐ के उच्चारण का अधिकार नहीं है। परन्तु उमा का उच्चारण सब कर सकते हैं। उमा का लगातार उच्चारण करोगे तो अपने आप ॐ हो जायेगा। ओंकार की सहायता से ही परमेश्वर अपने को प्रकट करता है, अर्थात् ओंकार के द्वारा ही वह अपने को प्रकट करता है। वह कैसे प्रकट करता है?'पूर्णेन्दुभावम्'- पूर्ण चन्द्रमा के सामने जब चन्द्रकान्त मणि होती है, तब वह पूरी तरह से द्रवित होती है। उसी प्रकार से जब परमात्मा के सामने मन जाता है, तब परमानन्द का अनुभव करता है, परम प्रेम का अनुभव करता है। मलरूपी दोष जिनके निवृत्त हुए और फिर विक्षेपरूपी दोष निवृत्त हुए तब 'उपासकानां' ओंकार की सहायता से जो परमेश्वर में चित्त को एकाग्र करते हैं, उपासना करते हैं, ऐसे उपासकों के लिए आप अपना वह स्वरूप प्रकट कर देते हैं जिसमें परमानन्द, परम प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।।१८।।

अब इस स्तोत्र का फल बतलाते हैं।

यस्ते प्रसन्नामनुसन्दधानो, मूर्तिं मुदा मुग्धशशाङ्कमौलेः।
ऐश्वर्यमायुर्लभते च विद्यामन्ते च वेदान्तमहारहस्यम्॥१९॥

मुग्ध चंद्र को मस्तक पर धारण करने वाले आपकी प्रसन्न मूर्ति का जो प्रेम से अनुसन्धान करता है वह ऐश्वर्य, आयु व विद्या पाता है, और अंत में वेदान्त का महान् रहस्य भी प्राप्त कर लेता है।

जो इस प्रकार निर्मल चित्त वाले उपासक आपके इस दक्षिणामूर्तिरूप का ध्यान करते हैं, अनुसन्धान करते हैं, वे महान् फल पाते हैं। ध्यान न कह कर अनुसन्धान इसलिए कहा क्योंकि इस स्तोत्र के अन्दर जो उनके सब अंग-प्रत्यंगों के विलक्षण स्वरूप बतलाये हैं, उन स्वरूपों का अनुसन्धान करना है। अर्थात् बार-बार विचार करना है। यह मूर्ति कैसी है?'प्रसन्नां मूर्तिम्'- हमेशा प्रसन्न है। इस मूर्ति के अन्दर सिवाय सत्त्व गुण के, हर्ष के, कोई दूसरा भाव प्रकट नहीं है। सत्त्व गुण की अधिकता में ही प्रसन्नता होती है। पहले भी आ चुका है कि उनके सिर में मुग्ध चन्द्र है। उनकी प्रसन्न मूर्ति का ध्यान भी जो 'मुदा'- मोदपूर्वक करता है अर्थात् उपासना के अन्दर जिसको अब कोई कष्ट का अनुभव नहीं होता वही फल पाता है। शुरू में जब मन और इन्द्रियों को एकाग्र करते हैं, तब कष्ट प्रतीत होता है। परन्तु जब दर्शन होने लगते हैं, तब फिर उस दर्शन से प्रसन्नता होती है। अन्य कार्य छोड़कर फिर 'मैं ध्यान कैसे करूँ जिसमें मुझे वह परमानन्द मिले?' इस प्रकार उत्साह होता है। मोदपूर्वक, मल-विक्षेप को दूर कर उनका ध्यान करता है, तो 'ऐश्वर्यमायुर्लभते'- उसे अष्ट ऐश्वर्यों की प्राप्ति हो जाती है, पूर्णायु की प्राप्ति हो जाती है तथा 'अन्ते च'- जब प्रारब्ध अन्त में समाप्त होता है, तब 'वेदान्तमहारहस्यम्' वेदान्त का जो महारहस्य, जीव-ईश्वर की एकता है, वह मिल जाती है। जैसे काशी में भगवान् उसे प्रकट करते हैं, वैसे ही जो इस प्रकार का ध्यान करने वाला है, उसको भी प्रकट कर देते हैं।।१९।।

0 0